आधी सदी का फ़ासला



मनस्वी प्रकाशन

आधी सदी का फ़ासला

विश्वनाथ सचदेव

ISBN 81-88430-11-0

आधी सदी का फ़ासला

प्रथम संस्करण : 2003

मूल्य : रुपए 150/-

प्रकाशक :

मनस्वी प्रकाशन

एम-8, कृष्णदीप कॉम्प्लेक्स

महारानी रोड, इन्दौर - 452 007

✆ : 0731-2430376

मुद्रक ·

प्रिन्टवेल ऑफसेट

अम्बेडकर नगर, इन्दौर

आवरण : मनस्वी ग्राफिक्स

आवरण चित्र · निताई दास

AADHI SADI KA FASLA

VISHVANATH SACHDEV

Published by :

Manasvi Prakashan

M-8, Krishnadeep Complex,

Maharani Road, Indore - 452 007

✆ . 0731-2430376

e-mail manasvimonthly@vsnl net

First Edition : 2003

Price : Rs. 150/-

शुभकामनाओं सहित
सप्रेम भेंट



रामनारायण घ. सराफ
कन्हैयालाल घ. सराफ



लोकमंगल

उनको जो मनुष्यता को अग्रगण्य

भारत के पक्ष में

उच्चतम न्यायालय ने हिन्दुत्व की भले ही कुछ भी व्याख्या की हो और कथित हिन्दू हृदय सम्राट अथवा हिन्दुओं के स्वघोषित हितचिंतक भले ही इस व्याख्या की पूँछ पकड़कर 'वैतरणी' पार करने में लगे हों, पर हमारे समय का एक कडवा सच यह है कि आसेतु-हिमालय एकता का प्रतीक हिन्दुत्व आज राजनीति का एक हथियार बना दिया गया है। उतना ही कडवा सच यह भी है कि जनतंत्र में अल्पसंख्यकों के हितों-अधिकारों की दुहाई देकर अल्पसंख्यकवाद को राजनीतिक स्वार्थों को साधने का साधन बना दिया गया है। इसी के चलते भारतीय समाज बँटवारे के उस कगार तक पहुँच गया है, जहाँ से आगे पतन की गहराई ही दिखती है। साम्प्रदायिकता का एक धीमा ज़हर भारत राष्ट्र-राज्य की धमनियों में लगातार 'इंजेक्ट' किया जा रहा है। ऐसा करने से किसका कितना स्वार्थ सध रहा है, यह शोध का विषय हो सकता है, पर यह तो दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि साम्प्रदायिकता के इस अंधड़ में बहुधर्मी, बहुभाषीय भारतीय समाज का ताना-बाना लगातार कमज़ोर होता जा रहा है। इस स्थिति को लाने में, यह संभव है, किसी की भूमिका अधिक सक्रिय रही तो किसी की कम सक्रिय, पर हकीक़त यह है कि इस स्थिति को बनाए रखने या और बिगाड़ने के लिए वे सब कहीं न कहीं दोषी हैं (या अपराधी ?) जो इसके नकारात्मक एवं खतनाक परिणामों के अहसास के बावजूद उन शक्तियों को स्वीकार करते रहे हैं जो अपने स्वार्थों की सीमाओं से आगे देखना नहीं चाहती थीं।

एक सचाई यह भी है कि हम यानी भारतीय समाज धर्म और साम्प्रदायिकता के अंतर को समझने के लिए तैयार नहीं होना चाहता। धर्म जीवन का सकारात्मक, प्रेरक तत्व है जो मनुष्य-जीवन को परिभाषित भी करता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिकता को सिर्फ़ विघटन के संदर्भों में ही समझा जा सकता है। आज देश में धर्म के नाम पर जो अंधड़ उठाया जा रहा है, उसमें भले ही किसी का कोई स्वार्थ सध रहा हो, पर एक सामासिक

भारतीय समाज एवं सामूहिक भारतीय संस्कृति के परखचे अवश्य उड़ रहे हैं। भूगोल की 'सचाइयों' एवं इतिहास की 'भूलों' के नाम पर जो वातावरण इस देश में बनाया जा रहा है, उसके ख़तरों के प्रति हम सावधान नहीं दिख रहे। यह स्थिति स्वयं अपने-आपमें ख़तरनाक है, पर इससे अधिक खतरनाक यह सचाई है कि हम कबूतर की तरह आँखें बंद करके यह मान लेना चाहते हैं कि सामने बिल्ली है ही नहीं!

एक अँधेरे में आँखें बंद करने की यह त्रासदी हमारे सोच और हमारे समय दोनों को कुंठित बना रही है। बाबरी मस्जिद का जिन्न हमारी पीठ से अभी उतरा नहीं है (पता नहीं, कब उतरेगा या उतरेगा भी कि नहीं?), अब भोजराज के सरस्वती मंदिर को लेकर विवाद को तूल दिया जा रहा है। इतिहास की कथित भूलों को ठीक करने के नाम पर आने वाले इतिहास पर नई भूलों के बोझ लादकर हमारा समाज आने वाली पीढ़ियों के लिए कौन-सा रास्ता सुगम बनाने की कोशिश में लगा है, यह बात समझ नहीं आती। हमने एक जनतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया है, जो 'सर्वजन हिताय' के सिद्धांत पर टिकी है। सर्वजन यानी भारतीय समाज के सारे हिस्से। ये सब मिलकर ही एक ऐसा आँगन बनाते हैं जहाँ हर चेहरे की मुस्कान ही ख़ुशियों की धूप को महका सकती है। फिर आँसू पोंछने के बजाए आँसुओं के कारण पैदा करने का क्या मतलब? अपनी ही मुस्कान का गला घोंटकर आखिर क्या पाना चाहते हैं हम? एक वृहद भारतीय समाज को टुकड़ों में बाँटकर अपनी ताकत और अपने अस्तित्व को ही कमजोर करने की साजिश का हिस्सा क्यों बन रहे हैं हम? कोई गोधरा कांड अथवा किसी गुजरात में धर्म के नाम पर फैली या फैलाई जाने वाली हिंसा हमें राष्ट्रीय त्रासदी अथवा समूचे राष्ट्र के किसी संकट का हिस्सा क्यों नहीं लगती? अपनों को पराया समझकर या बनाकर हम किस समाज के हितों को साधने का दावा करते हैं या भ्रम पालते हैं?

यह सच है कि १९४७ में देश का विभाजन एक ऐसे आधार पर हुआ था, जिसे हम आज तक स्वीकार नहीं कर पा रहे। जिन्ना ने धर्म के नाम पर पाकिस्तान माँगा और पाया। पर शेष भारत ने एक धर्म-निरपेक्ष संविधान को अंगीकार करके देशों को बाँटने-बँटने के तथाकथित धार्मिक आधार को सिरे से नकार दिया था। जब १५ अगस्त १९४७ को दिल्ली में भारत का तिरंगा लहराया गया था तो राष्ट्रपिता गाँधी नोआखली में साम्प्रदायिक उन्माद की सर्वनाशी आग बुझाने में लगे हुए थे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि

आज भी, यानी आधी सदी से अधिक के अंतराल के बाद भी, उस सर्वनाशी आग की चिंगारियाँ जब-तब देश के किसी हिस्से में भड़क उठती हैं। नहीं, ग़लत होगा यह कहना कि चिंगारियाँ भड़क उठती है—सच यह है कि हम भड़का देते हैं उन्हें। जातीय अस्तित्व के नाम पर एक भारतीय अस्तित्व को चुनौती देने या छोटा समझने-बनाने में हमें न कुछ ग़लत लगता है और न कुछ ख़तरनाक। पिछले ५०-५५ साल से लगातार की जा रही यह ग़लती हमारे समूचे भविष्य पर लगा एक ऐसा प्रश्नचिह्न है जो चीख-चीखकर हमसे उत्तर माँग रहा है। उत्तर इस बात का कि सहअस्तित्व की एक गंगा-जमुनी संस्कृति हमें रास क्यों नहीं आ रही ? उत्तर इस प्रश्न का कि धर्मों, जातियों, वर्णों, वर्गों में बँटा कोई समाज एक समग्र सामासिक समाज से बेहतर कैसे हो सकता है ?

आज यह सवाल उठाना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता कि दोष किसी पंडित का है या किसी मौलवी का। दोष किसी का भी हो, उसके दुष्परिणामों एवं उनसे उपजी यातना सहने के लिए शापित सब हैं। सब यानी हम सब भारतीय—चाहे हम स्वयं को हिन्दू कहें या मुसलमान, सिख कहें या पारसी, ईसाई कहें या बौद्ध। हमारे आज और हमारे आने वाले कल की आवश्यकता यह है कि हम अपना विस्तार करें। स्वयं को किसी धर्म या सम्प्रदाय तक सीमित समझकर हम एक विराट भारतीय अस्तित्व का कद ही छोटा करते हैं। यह विराट भारतीय अस्तित्व हमारा अस्तित्व है। हमारी अस्मिता है। हमारी पहचान है। हमारा गौरव भी।

भारतीयता के इस गौरव को गुजराती गौरव या तमिल गौरव या बंगाली गौरव या मराठी गौरव में बाँटकर हम अपने सीमित स्वार्थों को साधने या सधने का भ्रम तो पाल सकते हैं, पर हक़ीक़त यह है कि ऐसे किसी बँटवारे के बाद हम बहुत छोटे हो जाते हैं। ठीक इसी तरह तथाकथित धार्मिक बँटवारा भी हमारी पहचान को सीमित बना रहा है। जब कोई कथित हिन्दू स्वार्थ किसी कथित मुस्लिम स्वार्थ से टकराता है तो उस टकराहट में लहूलुहान एक ऐसा भारतीय हित होता है, जो हम सबका यानी इस देश के हर नागरिक का सामूहिक नाम है, हर नागरिक की सामूहिक पहचान है। भारत-भूमि में पलने वाले हिन्दू-मुसलमान-ईसाई इसी भूमि की उपज हैं। एक ही हवा, एक ही धूप और एक ही मिट्टी की देन हैं यह। इन्हें हम चाहे कोई भी नाम दे दें, पर इनकी रगों में बहने वाला ख़ून सिर्फ़ भारतीय ही हो सकता है। इस ख़ून को गाली देने का हक हममें से किसी को भी नहीं।

किसी के खून को गाढा और किसी के ख़ून को पतला समझने-कहने का हक भी नहीं। हाँ, यदि कोई शरीर रोगी है, उसका ख़ून पतला है तो उसे गाढा बनाने का दायित्व हम सबका अवश्य है। किसी एक का नहीं, हम सबका। क्या हम इस दायित्व को पहचान रहे हैं ? यदि हाँ, तो उसे पूरा करने के प्रति सचेत हैं हम ?

किसी व्यक्ति, किसी प्रवृत्ति अथवा किसी सोच के आगे छद्म शब्द लगा देना मुश्किल नहीं है, पर ऐसा विशेषण जोड़ने की प्रक्रिया के पीछे जो सोच काम कर रहा है, उसकी तथाकथित पवित्रता की गारंटी के बारे में कोई नहीं सोचता। उस बीमार मानसिकता के बारे में भी तो सोचना होगा जो किसी भी भिन्न धर्मावलंबी को शक के दायरे में ला देती है। हमारे समाज में सकारात्मक सोच वालों की कमी नहीं है। बहुमत में हैं वे। पर हमारा दुर्भाग्य यह है कि यह बहुमत स्वयं को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं समझ रहा। हिन्दू होना या मुसलमान होना कैसे गलत हो सकता है, ग़लत तो यह है कि हम हिन्दू होने या मुसलमान होने को ही महत्वपूर्ण मान रहे हैं, सर्वोपरि मान रहे हैं, भारतीय होने को नहीं। कोई हिन्दू ग़लत भी हो सकता है, सही भी। इसी तरह कोई मुसलमान भी सही या ग़लत हो सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि कोई इसलिए गलत या सही हो कि वह हिन्दू अथवा मुसलमान है।

मैंने अपने लेखन में इसी सोच को रेखांकित करने का प्रयास किया है। ऐसे ही लेखन के कुछ नमूनों का संकलन है यह पुस्तक। ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता कि जो वह सोच रहा है, वही सही है। पर व्यक्ति जिसे सही समझता है, उसे करने का हक उसे मिलना चाहिए। यह उसका दायित्व भी है। मैंने अपने लेखन में इसी दायित्व को पूरा करने की कोशिश की है। यदि मेरी यह कोशिश मेरे किसी पाठक के मन में अपने समय के सवालों के उत्तर खोजने की जिज्ञासा जगाती है तो मेरे लिए यह एक उपलब्धि होगी।

और हाँ, एक बात और। ये आलेख जिस क्रम में लिखे गए थे, उस क्रम में इस पुस्तक में हैं नहीं। सिर्फ उन्हें एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है- इस आशा में कि यह सारा सोच एक साबुत तस्वीर दे पाएगा। वैसे इस तस्वीर को सामने लाने का श्रेय 'मनस्वी' के संपादक श्री मुरली मोहन को जाता है, जो मुझे यह संकलन शीघ्र तैयार करने के लिए लगातार उकसाते रहे।

-विश्वनाथ सचदेव

अनुक्रमणिका

कविताएँ

आलेख



मेरी सदी का इतिहास

६ दिसंबर १९९२

एक गुम्बद ढह गया है
सत्य है यह,
किंतु आधा सत्य ही है,
सत्य पूरा यह कि
जो गुम्बद ढहा है, वह ढहाया था किसी ने।

कौन था जिसने उजाड़ा आस्थाओं को ?

जंगलों से शहर तक की यात्रा में
बहुत पाया आदमी ने।
चार पैरों की जगह
दो पैर पर चलना सुहाया आदमी को।
किंतु बाक़ी है कहीं हैवानियत का अंश कोई,
और जो गुम्बद ढहा,
साज़िश उसी की है,
अंश जो हैवानियत का बच रहा है,
खींच लाता आदमीयत के शिखर से आदमी को।

७ दिसंबर १९९२

सूरज तो आज भी उगा है,
पर काला क्यों है यह ?

जनवरी १९९३

भरी दोपहर में अँधेरा,

कौन है दोषी—सूरज या बादल ?
या फिर हमने अपनी आँखें बंद कर ली हैं ?
आँखें या तो डर से बंद होती हैं
या षड्यंत्र से,
हम डर रहे हैं या साज़िश रच रहे हैं ?
कभी-कभी हम अपने-आप से भी डरते हैं,
और अपने ही ख़िलाफ़ कभी साज़िश भी रचते हैं,
वह कभी साकार है अब,

सामने है—एक दर्पण-सा हमारे सामने है,
ये जो चेहरा है डरा-सा, या डराता-सा
हमारा है !
शस्त्र भी हम हैं,
शास्त्र भी हम हैं,
हाथ भी हम हैं उठाते शस्त्र को जो,
और जिस पर वार पड़ता शस्त्र का
वह तन हमारा है,
ख़ून जो बहता, हमारा है,
पीर सहता मन हमारा है,
जो लुटा या जो जला था घर किसी का
वह हमारा था,
पाप घर को लूटने का या जलाने का
हमीं से ही हुआ है।
किंतु हमको प्रायश्चित की सुध नहीं है !

१२ मार्च १९९३

बम
धमाका
विध्वंस
मौत
दहशत
मैं ठीक हूँ... अब तक !

१३ मार्च १९९३

मौन उस अनुभव की भाषा है
कि जिसके बाद
कोई और अनुभव हो नहीं सकता।
मौन हूँ मैं !
जो सुना, देखा,
समझने की जिसे कोशिश करी है,
आज उसके बाद कुछ भी
देखने, सुनने, समझने की
ज़रूरत और हिम्मत
है नहीं बाक़ी।
मौन हूँ मैं।

१६ मार्च १९९३

लिया...
दिया...
खाया...
शोर-शराबा,
आपाधापी,
वरली के दस फुट वाले गड्ढे के पास से गुज़रती
बस भरी हुई है... लोकल ट्रेनों में लटके
हुए हैं लोग... हापुस की पेटी ख़रीद रही है रीना
की माँ। सींगदाना। अख़बार। पावभाजी। मारुति। शेयर।
डिबेंचर। इरोज का मेटिनी शो। सब फिर वैसा
ही है जैसा कल था।
कल यानी विस्फोट से पहले का कल।
सलाम बॉम्बे।



अहं के टीले

*अपने-अपने शून्यों की पताकाओं को
एक-दूसरे से ऊँचा दिखाने की कोशिश में
पंजों पर उछल-उछलकर
कितना बौना बना लिया है
हमने अपने-आपको ?
पताकाएँ तो लंबे बाँसों से भी
ऊँची हो सकती थीं
पर हमने अपने-अपने
अहं के टीलों को
हिमालय समझने-बनाने का भ्रम पाला,
अपनी-अपनी नज़र के क्षितिजों को
समझ का सीमांत मान लिया और
अपने बनाए दायरों को सृष्टि का विस्तार*

*सच बताना,
तुम्हें नहीं लगता
सब कुछ पाने की होड़ में
हम सब कुछ खोते जा रहे हैं ?*



दंगों के बाद

झंडों का रंग हमें याद रहता है
ख़ून का रंग हम भूल गए हैं !
जाने यह कैसी बीमारी है
जब-तब
शरीर के किसी अंग में
कोई फोड़ा फूट आता है,
आसपास ज़हरीला हो उठता है।
जाने यह कैसा वहशीपन है
जब-तब
मेरे और तुम्हारे बीच
अविश्वास और आशंका के बीज बो जाता है,
और फिर
जो नहीं होना चाहिए, हो जाता है !
जाने यह कैसी नफ़रत है
जब-तब
मेरे और तुम्हारे घर के बीच
आग का दरिया बहा जाती है,
तुम्हें भुला देती है कि तुम आदमी हो
मुझे मेरे आदिम होने की याद दिला जाती है,
जाने यह कैसी दूरी है
जब-तब
अलगाव के तम्बू तान देती है
हैवानियत की फसल उगाने वाली
यह कौन-सी खेती है ?

कैसे भूल जाता हूँ मैं
कि मेरी और तुम्हारी किलकारियों से
कभी कोई आँगन महका था,
कैसे भूल जाते हो तुम
कि तुम्हारी और मेरी मुस्कान से
कभी कोई मौसम चहका था,
कैसे भूल जाता हूँ मैं सिवैंयों का स्वाद,
और कैसे याद नहीं रहते तुम्हें खील-बताशे ?
नहीं, भूलता कुछ भी नहीं,
याद सब रहता है,
हम सिर्फ़ याद न रहने
और भूल जाने का ढोंग रचते हैं,
जब हम ख़ून का रंग भूलकर
झंडों का रंग याद रखते हैं
तो ऐसा हर पल
हम जानवर होकर जीते हैं,
अपने-आप से डरते हैं
अपने-आप से बचते हैं,
दोस्त,
डब्ल्यू.एच. आडिन एक शायर था,
उसने कहा था
अगर हम एक-दूसरे से प्यार नहीं करेंगे
तो मर जाएँगे,
मैं आडिन की इस बात को दुहराना चाहता हूँ,
ज़रा ख़ुद को टटोलो
शायद तुम भी दुहराना चाहो !



सूरज की राह

सलाम सलाउद्दीन,
सलाम इसलिए नहीं कि
तुम किसी सीमा पर शहीद हुए
या किसी हिन्दू बच्चे को बचाने के लिए
हत्यारों के सामने तानकर खड़े हो गए सीना
या किसी राधा की अस्मत को
तुमने अपनी ज़िंदगी से ज़्यादा क़ीमती समझ लिया
ये सबके सब कारण काफ़ी हैं
तुम्हें सलाम करने के लिए
पर तुम इससे बड़ी इज़्ज़त पाने के हकदार हो
तुमने अपनी मौत के दीये को
सूरज के रास्ते पर रखना चाहा है,
चाहा है, सूरज सुबह की मशाल
इस चिराग़ से जलाए,
ढेर सारी सुबहें उगानी हैं अभी
एक चिराग़ मेरी मौत का भी
रखवा दो सूरज की राह में सलाउद्दीन।

सिर्फ़ सलाउद्दीन ही नहीं मरा
मरा विश्वनाथ भी है,
वह हर कोई मरा है
जिसकी आँख का आँसू टपका है
गोधरा और अहमदाबाद के नाम पर,

साबरमती एक्सप्रेस में भी आदमीयत मरी थी
और साबरमती आश्रम की धरती पर भी,
तब भी मरी थी आदमीयत जब...
...जब माँ की गोद से बच्ची को छीनकर
संगीन पर उछाल दिया गया था,
और तब भी आदमीयत ही मरी थी
जब नाम पूछ कर सर कलम कर दिया गया था
विश्वास राम और यक़ीन अली का,
मरी थी आदमीयत तब भी, जब
नंगी की गई थी सड़क पर अस्मत या श्रद्धा।
हाँ, आदमीयत तब-तब मरती है
जब-जब आदमी के भीतर का हैवान ज़िन्दा होता है
अँधेरों की फसलें उगाता है यह हैवान
उजालों को लील जाता है यह हैवान
सदियों की मुस्कानें ख़ामोश हो जाती हैं सदियों तक,
किरणों को, कलियों को, शबनम को,
मात्र शब्द बना जाता है यह हैवान!
सलाउद्दीन, तुमने इस हैवान की राह को नकारा है
चुनौती दी है उसे,
मैं तुम्हारे पास खड़ा होना चाहता हूँ सलाउद्दीन!



गोधरा

गुज़र गया गोधरा
पता ही नहीं चला।

सहयात्री ने बताया था
देर रात आएगा गोधरा,
सोचा था उठूँगा, देखूँगा गोधरा,
हाँ, वहीं से गुज़री होगी गाड़ी, उसी पटरी से,
जहाँ से गुज़री थी वो गाड़ी
सत्तावन आदमी ज़िन्दा जला दिए गए थे जिसमें,
बच्चे थे, बूढ़े थे, औरतें थीं, सब जला दिए गए--ज़िन्दा
सपने, आशाएँ, उमंगें... सब भस्म हो गए--ज़िन्दा!

कुछ नहीं हुआ मुझे
कुछ नहीं छुआ मुझे,
जब मेरी गाड़ी उस पटरी से गुज़री थी,
एक भी चीख़ नहीं सुनाई दी मुझे उन सत्तावन में से,
शोर भी नहीं, जो मचा होगा उस समय,
जब फेंके गए थे पत्थर उन डिब्बों पर
डाला गया था किरासन, पेट्रोल,
लगाई गई थी आग,
आई थी ख़बर जब
गोधरा में गाड़ी जलाने की,
बेचैन हुआ था मन,
फिर जब जला था गुजरात

तब भी लगा था कहीं कुछ परेशानी है,
फिर जब कहा सरकार ने
स्थिति हो रही है सामान्य,
मान गया था मैं भी,
हो रहा है सब कुछ सामान्य,
खुल रहे हैं बाजार,
ख़त्म हो गया है कर्फ़्यू, सेना का फ्लैगमार्च,
दमकल की घंटी, नारों का शोर

और हमने मान लिया
हो गया सामान्य सब,
अहमद के घर जला चूल्हा,
रामभजन फिर से जाने लगा दफ़्तर,
खुल रहे हैं बच्चों के स्कूल,
सूख गए हैं फहमीदा की माँ के आँसू
भूलना चाह रही है अलका
दंगों में मारे गए पति की डर से पथराई आँखें,
मुन्ना की आँखों में,
जलती माँ की चीखों का रंग तो है,
पर उसे आइसक्रीम अच्छी लगने लगी है फिर से,
अब वह सोते में रोता है, चीखता है,
जागे में खेलता है, खाता है,
सामान्य लगने लगी है हवा की गंध,
इसलिए गाड़ी जब गोधरा से गुज़री
पता ही नहीं चला !

सोते ही सोते गुज़र गया गोधरा !

हाँ, सोते ही सोते
गुज़ार देते हैं हम हर गोधरा !

सोते नहीं हैं तो
करते हैं नाटक सोने का,
ताकि गुज़र जाए गोधरा।

पर कभी कोई गोधरा गुज़रता है इस तरह ?
नहीं, कभी कोई गोधरा गुज़रता नहीं,
साथ-साथ चलता है साँस के,
बार-बार कोंचता है भीतर के आदमी को,
किंतु हम भीतर के आदमी को जगने कहाँ देते हैं ?
जब भी ये आदमी जगेगा भीतर का,
तब कोई गोधरा गुज़रेगा नहीं इस तरह।

कब हमें लगेगा महत्वपूर्ण
आदमी का जगना, गोधरा गुज़रने से ?

■

मनुष्य

जो भी श्रेष्ठ है मनुष्य में
सबसे पहले चढ़ती है बलि उसकी युद्ध में
सत्य, न्याय, विवेक
हो जाता है स्वाहा सब।

दिया होगा अर्जुन को कृष्ण ने ज्ञान
सिखाया होगा अन्याय के विरुद्ध लड़ने का अर्थ
बताई होगी महत्ता और महिमा
अत्याचार के बरक्स लड़ने की,
मरा था युद्ध में दुर्योधन, सच है,
कर्ण भी, भीष्म भी, आचार्य द्रोण भी, सच है,
किंतु क्या सच नहीं
उस धर्मक्षेत्र में बलि चढ़ा था स्वयं धर्मयुद्ध,
धँसा था रथ कर्ण का, सच है यह,
किंतु क्या सच नहीं अर्जुन के बाणों से उस दिन
क्षत हुआ क्षात्र-धर्म भी ?
युद्ध में विजय के बाद पांडुपुत्रों को
मिला था एक हस्तिनापुर, सच है,
किंतु कुरुक्षेत्र में
हत हुआ था एक पूरा हस्तिनापुर भी
सैनिक मरे थे रणभूमि में, सच है यह,
किंतु कोई भाई भी मरा था।
और भी बहुत कुछ था युद्ध में
मनुष्य था, रिश्ते थे।

तब मरी थी संवेदना,
रक्त में नहाई थी करुणा उस युद्ध में
प्यार, दया, प्रार्थना सब बलि चढ़ा था,
सबसे पहले युद्ध में चढ़ती है,
बलि उसकी
जो कुछ है श्रेष्ठ मनुष्य में।

आधी सदी का फ़ासला

इंतज़ार हुसैन दीये चुराता था,
बच्चा था तब वह,
पड़ोस के रामलुभाया के घर की छत,
और इंतज़ार हुसैन की छत के बीच
सिर्फ़ एक क़दम की दूरी थी,
रोज़ लाँघा करता था वह यह दूरी,
दिवाली की रात को भी,
और दो-चार दीये चुरा लाता था,
रोशनी चुरा लाता था अपने घर,
और अमावस्या की रात में उसका घर भी,
नहीं, घर नहीं, घर का एक कोना
रोशन हो जाता था।

बहुत पुरानी हो चुकी यह बात,
रोशनी चुराने और रोशनी चुराने की यादों में
खो जाने के बीच एक लंबा अंतराल है—बरसों का।
पर ये यादें उसे रोशनी के टापुओं में ले जाती हैं।
बड़ा हो गया है अब इंतज़ार हुसैन,
दीये नहीं चुराता अब, रोशनी भी नहीं,
पर यादों के टापू, रोशनी के टापू...
लेकिन आज मैं इंतज़ार हुसैन की बात क्यों कर रहा हूँ ?
प्रमथ्यु ने भी चुराई थी रोशनी
और फिर गिद्ध से नुचवाया था अपनी ही छाती को,
बार-बार, बार-बार, लगातार...
दर्द तो हुआ होगा,
पर आग या रोशनी चुराने की कहानी में

दर्द का ज़िक्र कहीं नहीं आता है,
सच तो यह है, रोशनी चुराने वाला,
दर्द नहीं जीता है, रोशनी को जीता है,
हम क्यों नहीं जी पाते रोशनी को ?
नहीं, सवाल यह होना चाहिए,
हम क्यों नहीं चुरा पाते रोशनी को ?

एक बात बताना तो मैं भूल ही गया,
इंतज़ार हुसैन जब दीये चुराता था,
रोशनी को अपने घर लाता था,
रामलुभाया नाराज़ नहीं होता था,
जानता था इंतज़ार हर दिवाली का
इंतज़ार करता है दीये चुराने के लिए,
और रामलुभाया हर दिवाली पर,
दो-चार दीये इंतज़ार हुसैन की छत के पास,
सरका आया करता था।

दीये सरकाने और दीये चुराने की यह बात
आधी सदी पुरानी हो चुकी,
और आधी सदी जितना चौड़ा हो गया है,
इंतजार हुसैन और रामलुभाया की
छतों के बीच का फ़ासला भी।
रोशनी अँधेरा नहीं, अँधेरे का डर मिटाती है,
अब तो अँधेरे नहीं, अँधेरों के डर मिटाने की ज़रूरत है,
एक नहीं ढेर सारे दीयों को चुराने की ज़रूरत है,
आओ हम भी दीया चुरायें,
लाँघ लें दो छतों के बीच का फ़ासला,

मेरे और तुम्हारे घर की छतों के बीच जो फ़ासला है,
आओ उसे लाँघें,
रोशनी की चोरी, चोरी नहीं होती है,
आओ, रोशनी चुरायें,
चलो, मैं इंतज़ार हुसैन बनता हूँ,
तुम रामलुभाया बन जाओ,
वो दीया ज़रा इधर सरकाओ,
मेरे घर का कोना भी रोशन हो जाएगा।
यादों के टापुओं में जीना नहीं चाहता मैं,
फिर भी न जाने क्यों चाहता हूँ यादों को साकार करना,
चाहता हूँ यादों को बाँहों में भरना,
यादें दीया चुराने की,
यादें रोशनी लाने की,
यादें तुम्हारे नाराज़ न होने की,
यादें अपने ख़ुश होने की...
क्या कहा, कोई नहीं था इंतज़ार हुसैन,
कोई नहीं था रामलुभाया ?
तो फिर यह क़िस्सा मुझे क्यों याद आया ?
चलो मान लिया, शायद सच कहते हो तुम,
पर रोशनी में जीने की मेरी इच्छा भी तो झूठ नहीं है,
इसलिए दोस्त, अपनी छत का वह दीया ज़रा इधर सरका दो,
रोशनी जब बँटती है न, कम नहीं होती है,
फैल-फैल जाती है।

तुम भी करो कोशिश एक दीया चुराने की।
मैं भी करता हूँ—आओ हम रोशनी को बाँट लें।



दंगों का सच

सुन मेरे भीतर के मैं
दंगों में राघव नहीं मरा था,
रहमत भी नहीं/ तू मरा था !

हाथ जो कटे थे शौकत अली के
वे तेरे थे,
पैर जो कटे थे सुबास के, तेरे थे,
लँगड़ा-लूला तू हुआ है मेरे भीतर के मैं,
शौकत और सुबास नहीं।
और जो वहशी बना था आदम का बेटा
वह भी तू ही था!
तूने ही ख़ुद को लूला बनाया था,
अपने ही हाथों से
अपने पर छुरा तूने चलाया था,
मार दिया अपने को
मार दिया सपने को ,
तूने ही मार दिया अपने सबेरे को,
पोत दिया कालिख से अपने ही चेहरे को,
कालिख यह बहुत दूर साथ-साथ जाएगी ,
जब-जब तू सोचेगा आदम का जाया तू
तेरे ज़मीर को यह कालिख रुलाएगी।



आधी सदी का फासला

सामूहिक अपराध के विरुद्ध

'अगर गाँव ज़िम्मेदार है तो जिला क्यों नहीं ? सारा राज्य क्यों नहीं ?' यह सवाल मध्यप्रदेश के पटना तमोली गाँव की सरपंच विमला चौरसिया का है और संदर्भ है उस 'सती' हुई महिला का, जिसके चलते मध्यप्रदेश सरकार ने उस महिला को सती होने के लिए उकसाने और रोक न पाने के लिए पूरे गाँव को सामूहिक दंड देने का निर्णय किया। सरकार की घोषणा के अनुसार ग्राम पंचायत को दो वर्ष तक किसी प्रकार की वित्तीय सहायता न देने का निर्णय किया गया है। अब गाँव की किसी भी योजना के लिए दो वर्ष तक कोई सहायता नहीं दी जा रही... राज्य सरकार के इस निर्णय को ग़लत बताना सही नहीं होगा। तथाकथित 'सती कांडों' में गाँव एवं आसपास की जनता की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहभागिता को अपराध के अलावा और क्या कहा जा सकता है ? और यदि यह अपराध है तो उसकी सजा मिलनी ही चाहिए। पटना तमोली गाँव की सरपंच ने इस सज़ा को अस्वीकारा नहीं है, पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल भी उठाया है—गाँव ही दोषी क्यों है, जिला क्यों नहीं ?

इस प्रश्न का सीधा-सा अर्थ यह है कि कलुबाई को 'सती' होने से रोकने में गाँव के लोग विफल रहे थे तो इसके पीछे उस मानसिकता का हाथ भी है जो समाज में इन संदर्भों को लेकर सदियों से पलती आ रही है। लेकिन आज इस लगभग अनपढ़ महिला के सवाल को पटना तमोली गाँव के संदर्भों से हटाकर भी देखना ज़रूरी है। यदि कुछ ग़लत हो रहा है तो इसके लिए व्यक्ति तो दोषी होता ही है—व्यक्ति का आसपास भी दोषी होता है। आसपास यानी हमारा समाज। सामाजिक सोच और सामाजिक सोच की सीमाएँ, दोनों, उस 'गलत' के उत्तरदायी हैं जो हमारे कदमों को अकसर बाँधकर रखता है। सरपंच विमला चौरसिया की पीड़ा भले ही यह हो कि उनकी पंचायत को 'सजा' क्यों दी जा रही है, पर जो सवाल उन्होंने उठाया है और जिस परिप्रेक्ष्य में उठाया है, वह उनके गाँव की सीमाओं से कहीं आगे जाता है। बहुत कुछ ग़लत हो रहा है हमारे देश में, जो समाज के सक्रिय सहयोग अथवा मौन निष्क्रियता के बिना नहीं हो सकता था। उदाहरण के लिए सांप्रदायिकता की उस आँधी को ही लें जो पिछले साल गोधरा और शेष गुजरात में बही थी। इसके लिए कुछ घटनाओं को उत्तरदायी बताया जा

सकता है और कुछ व्यक्तियों को दोषी भी ठहराया जा सकता है। लेकिन क्या यह सही नहीं है कि इस अपराध में समाज की मूक स्वीकृति अथवा आपराधिक निष्क्रियता की उतनी ही भागीदारी रही है जितनी गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस का डिब्बा जलाने वाले और साबरमती की धरती पर ख़ून बहाने वालों की थी ?

प्रश्न सिर्फ साम्प्रदायिकता की ज़हरीली आँधी तक ही सीमित नहीं है, इसका फैलाव विकृत सोच की उन सब सीमाओं तक है जो आसपास के समाज को बीमार बनाने पर तुला हुआ है। साम्प्रदायिकता, जातीयता और क्षेत्रीयता के चलते जिस तरह देश और समाज को बाँटने के षड्यंत्र चल रहे हैं, उनके लिए वे तो दोषी है ही जो इन षड्यंत्रों को रचते हैं, उन्हें क्रियान्वित करते हैं, समूचा भारतीय समाज भी दोषी है, जो इन षड्यंत्रों के लिए ज़मीन तैयार करने में जाने-अनजाने एक ऐसी भूमिका निभा रहा है, जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के हितों के विपरीत जाती है।

समस्या चाहे साम्प्रदायिकता की हो या जातीयता की; भ्रष्टाचार की अथवा सामाजिक जीवन में आए विषैले बिखराव की, उसे समूचे संदर्भो में देखना-समझना ज़रूरी है। इस समझने का एक अर्थ यह भी है कि हम इस बिखराव के लिए उत्तरदायी कारणों में कहीं न कहीं स्वयंअपना भी समावेश करें। अकसर होता यह है कि हम घटनाओं के लिए कुछ कारकों को दोषी ठहराकर अपने भीतर संतुष्टि का भाव पाल लेते हैं। यह संतुष्टि भ्रामक भी है और ख़तरनाक भी। सांप्रदायिकता की आग में झुलसा गुजरात इसका एक उदाहरण है। दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को दोषी करार दे दिया। सरकार ने अपनी कार्रवाई में कुछ व्यक्तियों, प्रवृत्तियों को उत्तरदायी बताकर अपने उत्तरदायित्व की इतिश्री समझ ली। मान लिया गया कि कुछ व्यक्ति, कुछ संस्थाएँ या फिर कोई सोच ग़लत कर अथवा करवा रहा है। उसे दंडित करके स्थिति सामान्य बना ली जाएगी। पर क्या यह समीकरण इतना सरल है ?

गुजरात के मुख्यमंत्री गोधरा कांड को सारे फ़साद की जड मान रहे हैं। उनके विरोधी उनके साम्प्रदायिक सोच को दोषी ठहरा रहे हैं। ग़लत दोनों बातें नहीं हैं, पर दोनों आंशिक सच हैं, पूरा सच नहीं। पूरा सच यह है कि गुजरात को एक टुकडा बनाकर नहीं देखा जा सकता। गुजरात उस पूरी सचाई का हिस्सा है जो हमें धर्मों-जातियों-वर्गों में बाँटे हुए है। इस बँटवारे के लिए किसी विश्व हिन्दू परिषद अथवा किसी जमाते-ए-इस्लामी को ही दोषी ठहराना ग़लत होगा। यह सच है कि इनके संकुचित सोच और अड़ियल व्यवहार ने समस्या को और जटिल बना रखा है, पर इस सचाई से आँख नहीं मूँदी जा सकती कि भारतीय समाज का बड़ा हिस्सा साम्प्रदायिकता के सोच

को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समर्थन देता रहा है। साम्प्रदायिकता की भावना को स्वीकृति देना अथवा इसके प्रति निष्क्रिय हो जाना भी एक तरह से उस अपराध का सहभागी होना है जिसके कारण देश और समाज बँट रहा है; जो सामाजिक सोच को विषैला बना रहा है इसलिए, सज़ा के भागी वे भी हैं जो इस अपराध को मूक सहमति दे रहे हैं अथवा तटस्थता की भाषा में बात कर रहे हैं।

'सतीप्रथा' के लिए एक पूरी ग्राम पंचायत को 'सजा' देकर एक उदाहरण उपस्थित करने तथा अपराध के प्रति संबंधित समाज में सहभागिता का अहसास दिलाने का जो काम किया गया है, वह ग़लत नहीं है, लेकिन, अपराध के विस्तार को ग्राम पंचायत तक ही सीमित रखने के इस सोच को विस्तार देने की ज़रूरत है। जब विमला चौरसिया यह कहती हैं कि गाँव ही दोषी क्यों, जिला क्यों नहीं, तो इसका निहितार्थ बहुत आगे तक जाता है। पानी में पत्थर डालें तो एक दूरी तक जाकर लहरें समाप्त होती दिखाई देती हैं पर समाप्त होती नहीं। दूर-दूर तक जाता है, पानी में पत्थर डालने का असर। यही हाल उन अपराधों का है, जो कोई देश या समाज करता है और इससे बचने अथवा उबरने का मार्ग यही है कि देश या समाज अपनी 'करनी' के अर्थों को समझे और उसके अनुरूप अपने आचरण को सँवारे। दोषी वही नहीं होता, जो गलत कर या बोल रहा होता है, दोषी वे भी होते हैं जो उस ग़लत को स्वीकार करते अथवा सहते रहते हैं। इसलिए ग़लत का प्रतिकार ज़रूरी है। ग़लत को ग़लत कहना ज़रूरी है और ऐसा कहने-करने के परिणामों को सहना ज़रूरी है। और सहने से अधिक ज़रूरी है सहने के लिए तैयार होना- अपने भीतर इस मानसिकता को पनपाना कि मैं ग़लत को स्वीकार नहीं करूँगा।

अब सवाल उठता है, ग़लत क्या है ? ग़लत है ग़लत को ग़लत न कहना और सही को सही न मानना। ग़लत है, वोट के लिए धर्म को हथियार बनाना। ग़लत है, समाज को जातियों और वर्गों में बाँटना। ग़लत है, सिर्फ अपने स्वार्थों के बारे में सोचना और व्यापक हितों को अनदेखा करना। गलत है तब बोलना जब चुप रहना ज़रूरी हो और तब चुप रहना जब बोलना ज़रूरी है। सही न बोलना कायरता भी है और अपराध भी। इसी तरह ग़लत का सहारा लेकर अपने स्वार्थ साधना भी अपराध ही कहलाएगा। तमोली गाँव की सरपंच ने एक सही मुद्दा उठाकर समूचे ग़लत के खिलाफ उँगली उठायी है। सवाल यह है कि हम इस उँगली को देख रहे हैं अथवा नहीं ? और समझ रहे हैं अथवा नहीं ?



एक विवेकशील समाधान के लिए

बाबरी मस्जिद कांड की बरसी के अवसर पर अयोध्या में मंदिर के निर्माण से संबंधित मुद्दा उठाकर प्रधानमंत्री वाजपेयी कौनसा राजनीतिक हित साधना चाह रहे थे इस पर विवाद हो सकता है और इस बात पर भी बहस की जा सकती है कि मंदिर-मस्जिद के मामले पर संसद का काम ठप करके विपक्ष राजनीति की बिसात पर कौन-सी गोटी खेल रहा है, लेकिन यह बात निर्विवाद है कि अयोध्या विवाद से देश के गंगा-यमुनी चरित्र पर अविश्वास और आशंकाओं का एक साया अवश्य पडा है। यह सही है कि मामला अदालत में है और वाजपेयी जैसे नेता यह कहकर बड़ी आसानी से कन्नी काट सकते हैं कि अदालत के निर्णय से पहले इस विवाद पर कुछ कहना उचित नहीं होगा। और यह भी सही है कि राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन ने इस अयोध्या-विवाद को दरकिनार कर रखा है और सरकार बार-बार कह चुकी है और कह भी रही है अयोध्या में मंदिर निर्माण राजग सरकार का एजेंडा नहीं है। लेकिन सही यह भी है कि भाजपा या संघ परिवार ने कभी भी इस मुद्दे को नकारा नहीं है। हालाँकि प्रधानमंत्री वाजपेयी यह कह रहे हैं कि 'इस संबंध में सरकार का कोई सीक्रेट एजेंडा नहीं है,' पर यह कहकर कि 'राम मंदिर निर्माण का कार्य राष्ट्रीय भावना के प्रकटीकरण का मामला था, जो अभी पूरा नहीं हुआ,' उन्होंने यह संकेत भी दे दिया कि कुछ ऐसा है जो उन्हें यह सब कहने के लिए बाध्य कर रहा है। यह बात दूसरी है कि प्रधानमंत्री के इस कथन पर जब हंगामा हुआ तो प्रधानमंत्री ने इस आशय की सफाई दी कि उनके कहने का मतलब वह नहीं था जो लोग समझ रहे हैं। उसी दिन शाम को राष्ट्रपति भवन में आयोजित एक समारोह में उन्होंने 'समझाया' कि उन्होंने बाबरी मस्जिद के ढहाने का समर्थन नहीं किया है। उन्होंने कहा 'मंदिर निर्माण राष्ट्रीय भावना का प्रकटीकरण है। मंदिर किस तरह बनाया जाए, वह महत्वपूर्ण है।'

प्रधानमंत्री के इस स्पष्टीकरण से वे तो संतुष्ट नहीं ही थे जिन्हें उनके पहले बयान पर आश्चर्य और दुःख हुआ था, शायद स्वयं प्रधानमंत्री को भी अपना स्पष्टीकरण अपर्याप्त लगा। दूसरे दिन ही मौका मिलने पर उन्होंने फिर

कहा, 'सरकार राजग एजेंडा से पीछे नहीं हटेगी।' उन्होंने यह भी कहा कि 'मैंने (राम मंदिर के बारे में) कहा था अयोध्या में राम मंदिर का निर्माण अधूरा है और इस विवाद को हल किया जाना चाहिए।'

प्रधानमंत्री ने इसी बयान में संभावित हल भी सुझाया था, पर उस बात से पहले कुछ और बात ज़रूरी है।

जिस तरह बाबरी मस्जिद को ढहाया गया था, वह हमारे समय के इतिहास का एक शर्मनाक अध्याय है। आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी, उमा भारती की इस संदर्भ में भूमिका पर विवाद हो सकता है, पर यह कहना सही नहीं होगा कि ६ दिसंबर १९९२ को अयोध्या में जो कुछ हुआ वह स्वतः स्फूर्त था। और यदि स्वतः स्फूर्त था तब भी न इसका औचित्य ठहराया जा सकता है और न ही इस संदर्भ में उस समय की उत्तरप्रदेश सरकार की भूमिका को जायज़ ठहराया जा सकता है। संदेह के घेरे में तो केंद्र की तत्कालीन सरकार की भूमिका भी है। परंतु उत्तरप्रदेश में तब कल्याणसिंह के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार ने जो भूमिका अपनाई थी उसके बारे में किसी को किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए—तब कल्याणसिंह ने देश को धोखा दिया था। देश के संविधान के साथ ग़द्दारी की थी तत्कालीन उत्तरप्रदेश सरकार ने। आज यदि भाजपा के नेतृत्व का एक वर्ग यह दलील देता है कि राम मंदिर की आधारशिला राजीव गाँधी ने रखवाई थी और उन्हें देश-विरोधी कहना कम-से-कम कांग्रेस के लिए उचित नहीं है, तो इसे कुतर्क की श्रेणी में ही रखा जा सकता है।

प्रश्न अयोध्या में राम मंदिर के निर्माण का नहीं है, प्रश्न बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने का है। ग़लत राम मंदिर का बनना नहीं है, ग़लत है मस्जिद का उस तरह से ढहाया जाना जैसे वह ढहाई गई। इसकी योजना संघ परिवार के किस सदस्य ने बनाई थी, यह शायद अदालत तय करे। पर यह तय करने के लिए किसी अदालत की आवश्यकता नहीं है कि भाजपा ने इस मुद्दे को पूरी तरह भुनाया था। श्री आडवाणी की रथयात्रा के दौरान जिस तरह का साम्प्रदायिक माहौल बना था और फिर जिस तरह से इस माहौल का राजनीतिक लाभ उठाया गया, वह कोई छिपा हुआ सत्य नहीं है। आज यदि भाजपा की सहयोगी पार्टी शिवसेना यह कहती है कि यदि भाजपा ने हिन्दुत्व का मुद्दा छोड दिया अथवा मुसलमानों को रिझाने को ज़रूरत से ज़्यादा महत्व दिया तो फिर से संसद में उसके सदस्यों की संख्या दो हो सकती है, तो इस धमकी का मतलब किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यह पूरी तरह से संभव है कि इस संदर्भ में शिवसेना का आकलन पूरी तरह से ग़लत सिद्ध हो, पर इससे इतना तो

पता चलता ही है कि संघ-परिवार या शिवसेना जैसे दल धर्म के नाम पर की जाने वाली राजनीति के लाभों को किस तरह से आँकते हैं। राजनीति का एक धर्म अवश्य होता है, पर धर्म की राजनीति नहीं होनी चाहिए। भारत जैसे बहुधर्मी देश में धर्म को राजनीति का मोहरा या सहारा बनाकर बिखराव की ज़मीन ही तैयार हो सकती है।

१९९१ में रथयात्रा ने ऐसी ही भूमि तैयार की थी और आज जबकि केंद्रीय मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों के खिलाफ मामला चल रहा है, प्रधानमंत्री को उनके निर्दोष होने का सर्टिफिकेट देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वाजपेयी की इस बात को कोई कैसे स्वीकारेगा कि ६ दिसंबर १९९२ को आडवाणी, मुरली मनोहर जोशी और उमा भारती बाबरी मस्जिद को ढहाने से बचाने के लिए अयोध्या गए थे? लोगों ने वहाँ देखा था और इस संदर्भ में चित्र भी हैं अभी जिनमें उमा भारती को ख़ुशी मनाते देखा गया। आडवाणी के ख़िलाफ़ तो इस आरोप की जाँच भी हो रही है कि उन्होने उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री कल्याणसिंह को तब तक इस्तीफ़ा देने से रोका था, जब तक मस्जिद ढहाने का काम पूरा नहीं हो जाता। सच तो यह है कि तब समूचे संघ परिवार में अकेले वाजपेयी ही थे जिन्होंने उस समय अयोध्या कांड की भर्त्सना की थी। आज वही वाजपेयी मंदिर-निर्माण को राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति बताकर क्या पाना चाहते हैं? क्या उनकी दृष्टि उत्तरप्रदेश के आगामी चुनावों पर है? यदि हाँ, तो यह उन जैसे राष्ट्रीय नेतृत्व की प्रतिमा के अनुकूल नहीं है। भले ही प्रधानमंत्री ने किसी भी कारण से या किसी भी दबाव में यह सब कहा हो, इसकी सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

यहीं इस बात पर भी ग़ौर किया जाना ज़रूरी है कि जब प्रधानमंत्री राम मंदिर के निर्माण को राष्ट्रीय भावना के प्रकटीकरण का मामला बताते हों तो उनके कहने का तात्पर्य क्या है। यह सही है कि भारत में हिन्दुओं का बहुमत है। लेकिन इसके बावजूद हमारा संविधान सभी धर्मों को समानता का दर्जा देता है और हर भारतीय को अपने धर्म के पालन और उस पर गर्व करने का अधिकार है। प्रधानमंत्री वाजपेयी जब यह कहते हैं कि राम मंदिर के निर्माण का कार्य राष्ट्रीय भावना के प्रकटीकरण का मामला था, तो क्या वे यह कहना चाहते हैं कि देश की बहुसंख्यक जनता अयोध्या में राम मंदिर का निर्माण चाहती है और वह बाबरी मस्जिद के ढहाने के पक्ष में थी? यदि ऐसा होता तो १९९६ के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को मिले कुल २० प्रतिशत मतों से कहीं अधिक मत

मिलने चाहिए थे। बाबरी मस्जिद को ढहाए जाने के बाद यह देश का पहला चुनाव था। इसके तीन साल बाद जब देश में फिर चुनाव हुए तब भी भारतीय जनता पार्टी को मात्र २५.७ प्रतिशत वोट मिले थे। २५ प्रतिशत वोट मिलने का मतलब भी यह नहीं है कि एक चौथाई देश भाजपा के साथ है। देश की लगभग आधी आबादी को वोट देने का अधिकार है और इसमें से कुल ६० प्रतिशत ने अपने वोट देने के अधिकार का उपयोग किया। इसका मतलब यह हुआ कि आठ प्रतिशत से भी कम भारतीयों ने पिछले चुनावों में भाजपा का समर्थन किया था। और यह तो भाजपा भी स्वीकार करना चाहेगी कि इन सब मतदाताओं ने सिर्फ़ मस्जिद ढहाने या मंदिर बनवाने के नाम पर भाजपा का समर्थन नहीं किया था। बहरहाल, यदि यह मान भी लिया जाए कि भाजपा को यह सब वोट मंदिर के निर्माण के सवाल पर मिले थे, तब भी इसे राष्ट्रीय भावना किस आधार पर कहा जा सकता है?

भाजपा और समूचे संघ परिवार को यह स्वीकारना चाहिए कि देश के बहुसंख्य हिन्दुओं ने बाबरी मस्जिद को ढहाए जाने के कार्य का समर्थन नहीं किया है। हाँ, यह फिर भी कहा जा सकता है कि संभवत: ये हिन्दू अयोध्या में राम-मंदिर बनने का विरोध नहीं करेंगे। यदि बाबरी मस्जिद का बनना इतिहास की एक ग़लती थी तो जिस तरह से उसे ढहाया गया वह भी हमारे समय के इतिहास की एक ग़लती के रूप में ही जाना जाएगा। इस बात को समझना ही प्रायश्चित के एक अहसास का जगना है। यह अहसास ज़रूरी है और इसके साथ ही यह संकल्प भी ज़रूरी है कि ऐसी ग़लती दुबारा नहीं होने दी जाएगी। यह प्रायश्चित और ये संकल्प हमारे कल को सँवारेंगे--पर कुछ और भी ज़रूरी है हमारे कल को सँवारने के लिए।

बाबरी मस्जिद ढह चुकी है। एक अस्थायी मंदिर भी वहाँ बना दिया गया है। ये दोनों बातें नहीं हुई होतीं तो अच्छा होता। पर अब यह हकीकत है। हकीक़त यह भी है कि एक तरफ़ मामला न्यायालय में विचाराधीन है और दूसरी ओर जब-तब मस्जिद-मंदिर के सवाल पर भावनाओं को उभारकर भारतीय समाज के आपसी रिश्तों को तनाव की स्थिति में डाल दिया जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। तो फिर क्या किया जाए? उत्तर है, समस्या के समाधान की एक ईमानदार कोशिश। ईमानदार कोशिश का मतलब है संकुचित राजनीतिक स्वार्थों-हितों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय हितों के मद्देनजर एक ऐसी कोशिश जिसमें हम स्वयं को हिन्दू या मुसलमान न समझकर एक भारतीय के रूप में देखें और फिर सोचें कि अब क्या किया जाना चाहिए, क्या किया जा सकता है।

पहला उत्तर तो यह है कि बाबरी मस्जिद फिर से बना दी जाए। पर ऐसा करना समय और स्थिति की वास्तविकताओं को नकारना होगा। इसलिए मंदिर कहाँ और कैसे बने का सवाल उठता है। यही बात प्रधानमंत्री ने अपने स्पष्टीकरण में भी कही है। पिछले आठ सालों में इस बारे में बहुत से सुझाव आ भी चुके हैं। शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे तक ने एक बार वहाँ राष्ट्रीय स्मारक बनाने की बात कही थी। क्या सचमुच ऐसा कुछ नहीं हो सकता? क्या मंदिर और मस्जिद साथ-साथ नहीं बन सकते? साथ जीने का तकाजा है कि हम साथ प्रार्थना करना भी सीखें। यदि हम चाहें तो अयोध्या को सर्वधर्म समभाव का प्रतीक बनाकर विश्व के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं।

सच बात तो यह है कि इस समस्या का हल न्यायालय का निर्णय भी नहीं होगा। इस बात की पूरी आशंका है कि निर्णय जिसके भी विपक्ष में जाएगा, वह निर्णय को या निर्णय-प्रक्रिया को ग़लत ठहराने की कोशिश करेगा। सर्वमान्य समाधान हिन्दू-मुसलमान मिलकर ही निकाल सकते हैं। उन्हें यह करना ही होगा। पर इसके लिए दोनों पक्षों को उदार बनना होगा, दोनों पक्षों को स्थिति की वास्तविकताओं को समझना होगा और एक-दूसरे की भावनाओं को भी। प्रदर्शन और नारे इसके लिए ज़रूरी माहौल बनाने में बाधक हैं और यह सोच कि मैं ही सही हूँ, एक ऐसी हठधर्मिता को जन्म देता है, जिसका परिणाम सुखद नहीं हुआ करता। हमें सुखद परिणाम चाहिए, ताकि हमारा कल आज से बेहतर हो सके। इसके लिए किसी दूसरे से बलिदान माँगना सही नहीं होगा, सही होगा स्वयं बलिदान के लिए तैयार होना। त्याग की यह भावना ही एक-दूसरे को समझने का आधार बना सकती है। आपसी समझ का एक 'घर' ऐसी ही नींव पर बनता है। इसलिए दोनों समुदायों को विवेकशीलता का परिचय देना होगा। मस्जिद तोड़ने वालों को इतिहास की ग़लती सुधारने का दावा छोड़ना होगा और मस्जिद के पुनर्निर्माण को जीवन-मरण का सवाल बनाने वालों को हठ। सबको मिल-बैठकर तय करना होगा कि नया इतिहास कैसे रचें। प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी की इस बारे में भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है- बशर्ते वे भाजपा या हिन्दुओं के नेता के बजाए स्वयं को भारत का नेता समझें और उसी के अनुरूप आचरण करें।

■

यह काँटा निकालना ही होगा

"हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है...हिंसा तो उस काँटे की तरह है जो नंगे पाँव राह चलते चुभ जाता है... उस काँटे को निकालना ही पड़ता है, तभी पीड़ा शांत होती है..."

ये शब्द आचार्य महाप्रज्ञ के हैं। उस दिन पालनपुर में जब आचार्यश्री को सुनने पहुँचा तो अहमदाबाद से होकर गया था वहाँ। इससे पहले तीन महीने तक गुजरात में हिंसा के तांडव की ख़बरों से आक्रांत और क्षुब्ध था मन। पालनपुर पहुँचने के लिए जब मुम्बई से चला था तो रेलगाड़ी के गुजरात की सीमा में प्रवेश के साथ ही गोधरा...अहमदाबाद...भावनगर सब ज़ेहन में कौंध-से गए थे। धर्म के नाम पर गोधरा में जो अमानुषिकता हुई और उसके बाद बदले और "सबक सिखाने" के भाव से गुजरात में जिस तरह हिंसा का दौर चला, वह सब जैसे चलचित्र की तरह रह-रहकर आँखों के सामने आता रहा था। फिर अहमदाबाद पहुँचना। जले हुए मकान, दुकानें, खण्डहर बनी मस्जिद, उस भीषण कांड के तीन महीने बाद भी सड़कों पर पड़ी जली हुई गाड़ियाँ...और वह ख़ौफ जो मेरे मित्र पर मुस्लिम इलाक़े में घुसते ही छा गया था...मन और मस्तिष्क दोनों भारी थे जब पालनपुर पहुँचा था। हत्या-बलात्कार की ख़बरें इतने अर्से बाद भी घेरे हुए थीं मुझे। रास्ते भर मैं सोचता रहा था, जो कुछ हुआ या हो रहा है उसे धर्म कैसे कह सकते हैं ? धर्म के नाम पर इस तरह मनुष्य के अधार्मिक होने को कोई धर्मगुरु चुनौती क्यों नहीं दे रहा ? गुजरात तो उस नरसी भगत की धरती है जिसने वैष्णव जन की अनूठी परिभाषा दी थी—वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर परायी जाने रे। कैसे किसी को याद नहीं आई यह बात जब धर्म के नाम पर अमानुषिकता का नंगा नाच हो रहा था ? मनुष्यता इतनी कमज़ोर कैसे हो गई कि हिंसा का पागलपन सिर पर सवार हो गया ? ऐसे न जाने कितने-कितने सवाल थे जो बार-बार मन में उठते थे और फिर दब जाते थे....

ऐसे में जब यह सुना कि हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है तो लगा था, दी जा सकती है चुनौती मनुष्य की अमानुषिकता को। जो मेरा स्वभाव नहीं है मैं उसका गुलाम क्यों बनूँ ? काँटा चुभने के दर्द से मुक्ति पाने के लिए काँटे को निकालना ही होगा.आचार्य महाप्रज्ञ के इस उद्‌बोधन से जैसे कुछ मरहम-सा लगा

दुखते घाव पर। लगभग हज़ार लोग और भी थे जो मेरे साथ इस उद्बोधन को सुन रहे थे। निश्चित रूप से उन्हें भी ऐसा कुछ लगा होगा...तब मुझे यह भी लगा था कि राजस्थान से महाराष्ट्र तक की आचार्य महाप्रज्ञ की यह अहिंसा-यात्रा एक सार्थक हस्तक्षेप है उन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ जो मनुष्य को दानवी वृत्तियों का दास बनाती हैं। जब यह यात्रा प्रारंभ हुई तो गुजरात शांत था। साम्प्रदायिकता के उस लावे का कोई संकेत नहीं था जो गुजरात में भीतर ही भीतर उबल रहा था। यात्रा प्रारंभ होने से पूर्व आचार्य-प्रवर ने लाडनूं में अनौपचारिक बातचीत के दौरान उन मानवीय मूल्यों की बात अवश्य की थी जिनके लगातार होते क्षरण ने जीवन की राहों को मुश्किल भी बनाया और चिंतनीय भी। गुजरात का अचानक भभक उठना अनायास ही महाप्रज्ञ की अहिंसा-यात्रा की एक चुनौती बन गया। मुझे लगा, यह एक अवसर है जब महाप्रज्ञ साम्प्रदायिकता के अमानवीय सोच के विरुद्ध एक सार्थक लड़ाई शुरू कर सकते हैं। अपनी यही बात कहने गया था मैं पालनपुर। महाप्रज्ञ स्थिति की भयावहता और समय की आवश्यकता से पूर्णतः परिचित थे। वे उस दायित्व के प्रति भी जागरूक थे जो स्थितियों ने उनके कंधों पर डाल दिया था। बातचीत के दौरान मेरे एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था, "अहिंसा की बात करने से ही बात नहीं बनेगी, अहिंसा का प्रशिक्षण देना होगा।" अपने प्रवचनों में महाप्रज्ञ यही 'प्रशिक्षण' दे रहे हैं—वे यह बात लोगों के मनों में बिठाना चाहते हैं कि हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है...

उस बातचीत के तत्काल बाद उन्होंने प्रवचन में अपनी यह बात दुहराई थी- काँटा निकलेगा, तभी पीड़ा कम होगी।

यह बात वे लगातार कह रहे हैं। आदमी को आदमीयत की पहचान कराने के उनके प्रयास की सार्थकता इस बात में भी है कि यह उद्गार हज़ारों-लाखों की सभाओं में ही नहीं व्यक्त हो रहे, गुजरात के छोटे-छोटे गाँवों में, जहाँ से भी यात्रा गुजरती है, आदमी को आदमी होने का मतलब समझाने का एक यज्ञ चल रहा है। दस-बीस, सौ-पचास कितने भी लोग क्यों न जुटें, महाप्रज्ञ मनुष्यता का संदेश उन तक पहुँचा रहे हैं। इस यात्रा में बड़ी सभाएँ भी हुई हैं, उनका अपना महत्त्व है, पर मुझे लगता है, हिंसा की ज़हर-भरी हवा में मनुष्यता का संदेश देने वाली यह आवाज जब दो-चार या दस-बीस लोगों से पूछती है, तुम किसके पक्ष में हो, जीवन के अथवा मृत्यु के, तो यह प्रश्न श्रोता को अनायास ही एक नई जीवन दृष्टि दे देता है...

यह बात भी आश्वस्त करने वाली है कि यात्रा के दौरान प्रवचनों को सुनने के लिए—यात्रा का सहभागी बनने के लिए—एकत्र होने वालों में धर्म की

कोई लकीर नहीं खिंची। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब सम्मिलित हो रहे हैं मानवता की जय का संदेश देने वाली इस यात्रा में।

क्यों, शामिल हो रहे हैं सब, यह सवाल मैंने अपने आप से पूछा था।

उत्तर में मुझे जो कुछ मिला, वह मनुष्य के स्वभाव वाली बात थी। हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है, द्वेष मनुष्य का स्वभाव नहीं है। विचलन होता है, पर अंततः मन की स्थिति 'पुनि जहाज़ पर' आने की-सी है। कितना ही भटके व्यक्ति, पर मन खींच-खींचकर उसे सही राह पर लाने का प्रयास करता ही है। हिंसा के सारे तांडव के बावजूद यही मन मनुष्य बनने की आवाज़ सुनता-सुनाता है। धर्म के नाम पर जब व्यक्ति मनुष्यता को भूलने लगता है तो यही मन उसे प्रेरित करता है अपनी सही राह पर चलने के लिए। हम मन की बात कितनी सुनते हैं, यह एक सवाल अवश्य है। अकसर तामसी प्रवृत्तियाँ सात्विक विचारों पर हावी होने की कोशिश करती हैं—अकसर सफल हो भी जाती हैं। पर तामसी वृत्तियों की इस सफलता को स्थाई मान लेना या अंतिम स्थिति मान लेना सही नहीं होगा। ऐसा होता तो जीवन के उजले पक्षों की बात सोचना ही भूल जाता मनुष्य। समझने की बात यह है कि समूची कथित सफलताओं और सारी ताकत के बावजूद ये तामसी वृत्तियाँ मनुष्यता की राह का विचलन ही हैं। ऐसा विचलन एक सीमा तक सहज तो है पर है यह विचलन ही। जीवन का रास्ता तो वही है जो मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनने की ओर ले जाता है। अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। तमसो मा ज्योतिगर्मय। भले ही व्यक्ति प्रकाश के मार्ग से अंधकार की ओर भटक जाए क्योंकि अँधेरे के अपने आकर्षण होते हैं, पर अंततः उसे प्रकाश का मार्ग ही सही लगता है। मनुष्यता का तकाज़ा है कि उसे ऐसा लगना ही चाहिए।

मनुष्यता का यही तकाज़ा प्रायश्चित की आवश्यकता और महत्ता को रेखांकित करता है। यह सही है कि अकसर इतर आकर्षण और दबाव व्यक्ति को प्रायश्चित के दायरे से दूर खींचे रहते हैं। सारी हिंसा और अमानुषिक कृत्यों के बावजूद, यदि गुजरात अथवा अन्य किसी दंगाग्रस्त क्षेत्र में साम्प्रदायिकता की आग पूरी तरह शांत नहीं होती तो उसका कारण यही इतर आकर्षण और दबाव है। मेरा धर्म तेरे धर्म से श्रेष्ठ है, यह भावना ऐसे ही आकर्षणों एवं दबावों का परिणाम हो सकती है। मैं सही हूँ, तू ग़लत, यह भाव भी मनुष्य में तभी जगता है, जब उसे यह भ्रम होता है कि वह दूसरे से बेहतर है। भगवान महावीर ने अनेकांत का दर्शन प्रतिपादित करके मनुष्य के इसी भ्रम को तोड़ा था। मैं सही हूँ, पर तुम भी सही हो सकते हो, यह भाव जब मनुष्य में जगता है, तब अपने

कुछ होने और दूसरे के कुछ न होने का भाव भी तिरोहित हो जाता है। अपने जैसा लगने लगता है दूसरा। तब किसी दूसरे पर हाथ नहीं उठ सकता, संभव नहीं कि तब दूसरे का रक्त बहता हुआ दिखे और स्वयं को पीडा न हो। यह पीडा अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव है। जब परायी पीर का अनुभव नहीं होता तो इसका मतलब है मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध काम कर रहा है।

शरीर का कोई हिस्सा जब सुन्न हो जाता है तब वहाँ कुछ अनुभव नहीं होता। पिन चुभाएँ तब दर्द नहीं होता। तब उस अंग को हिलाना-डुलाना पडता है, ताकि रक्त का संचार हो। ताकि पिन चुभाने पर दर्द हो वहाँ। ताकि शरीर का वह हिस्सा अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाए।

हिंसा जब-जब हावी होती है, अमानुषिक वृत्तियाँ जब-जब प्रबल बनती हैं, जब व्यक्ति स्वयं को हमेशा सही और दूसरे को हमेशा ग़लत समझता है, तब यह मानना चाहिए कि व्यक्ति की यह समझ व्यक्ति की चेतना को सुन्न बनाए हुए है। सुन्न होने की इस स्थिति को बदलना ज़रूरी है। हिलाना-डुलाना पडेगा व्यक्ति के बीमार सोच को, ताकि रक्त बहे नहीं, रक्त का संचार हो। पीडा हो पिन चुभाने पर। दूसरे को जलता देखकर ख़ुद को लगे मेरा अंग जल रहा है। यह स्थिति मनुष्य होने की स्थिति है। इसका उल्टा होने का मतलब भी स्थिति का मनुष्य से उलटा होना है। जानवर नहीं है मनुष्य। यह अहसास जब तक नहीं जगेगा, अपनी ग़लती ग़लती नहीं लगेगी मनुष्य को। मनुष्य होना है, मनुष्य बने रहना है तो अपनी ग़लती का अहसास होना भी ज़रूरी है। तभी प्रायश्चित का भाव जगता है। तभी मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति में आता है—मनुष्य बनता है। यही मनुष्य का स्वभाव है और मनुष्यता का तकाज़ा भी।

उस दिन महाप्रज्ञ जब कह रहे थे, हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं है तो वे यही संदेश दे रहे थे कि जो तुम्हारा स्वभाव नहीं है, वैसा करने के लिए तुम बाध्य नहीं हो। सच तो यह है कि वैसा करने का मतलब ग़लत प्रवृत्तियों का गुलाम बनना है। यह ग़ुलामी भी मनुष्य का स्वभाव नहीं है। मनुष्य बनने के लिए अमानुषिक बाध्यताओं से उबरने का सजग और सार्थक प्रयास करना ही होगा। स्वयं करना होता है यह प्रयास—इस प्रयास का मतलब है मनुष्य के सहज स्वभाव की स्वीकृति। मनुष्य बनने की ललक का पैदा होना और इस संकल्प का जगना कि मेरे होने का अर्थ सही राह पर चलने का प्रयास करना है। पैर का काँटा निकालकर महाप्रज्ञ इसी संकल्प को जगाने में लगे हैं। आमीन।



देर होने से पहले

मुंबई के दंगों के पीछे अयोध्या-कांड का कितना हाथ था और अपराधों की राजनीति व राजनीति के अपराधों का कितना, यह भले ही किसी जाँच का विषय क्यों न हो, इस तथ्य को किसी जाँच की दरकार नहीं है कि दिसंबर-जनवरी (१९९२-९३) के इन दंगों ने भारत के सर्वाधिक आधुनिक माने जाने वाले शहर का चेहरा बदल दिया है। सात सौ से अधिक लोगों का मरना, हज़ारों का बेघरबार हो जाना और लाखों की ज़िंदगी में आतंक का एक स्थायी भाव की तरह पसर जाना, एक ऐसी त्रासदी है, जिससे पता नहीं, यह शहर कब उबर पाएगा। अभी दंगों की आग पूरी तरह बुझी नहीं है, राहत-कार्य जारी हैं, दिलों और दिमाग़ों में आई दूरियों को पाटने की चिंता व्यक्त की जाने लगी है, उम्मीद की जानी चाहिए कि देर-सबेर साम्प्रदायिकता की आग की तपिश कम होगी और मुंबई एक बार फिर जीवन के स्पंदन का अहसास करेगी। थिरकेगी, महकेगी। पर सवाल उठता है मुंबई इस आग में झुलसी क्यों ? और यह भी कि मुंबई ही क्यों झुलसी ?

पहले प्रश्न का उत्तर दिया भी जा रहा है और खोजा भी जा रहा है। धार्मिक भावनाओं के नाम पर साम्प्रदायिकता की राजनीति को मुंबई के इन दंगों का एक प्रमुख कारण बताया जा रहा है। असामाजिक तत्वों और राजनीतिक स्वार्थों की भूमिका ने रही-सही कसर पूरी कर दी और मुंबई दंगों की आग में जल उठी। शहर की कुछ सड़कों पर पढ़ी जाने वाली नमाज़ के ख़िलाफ़ शुरू किया गया महाआरती-अभियान मुंबई में कई जगहों पर दंगों की शुरुआत का कारण बना। शिवसेना समेत संघ-परिवार ने इस मौके को अपना वोट-बैंक सुदृढ बनाने के लिए इस्तेमाल किया। बैंक कितना मज़बूत हुआ है यह तो आने वाला कल ही बताएगा, पर इस दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शक और अलगाव की दीवारें उठाने में इन तत्वों को सफलता अवश्य मिल गई है। बहरामपाडा मुंबई का सर्वाधिक संवेदनशील इलाका बन गया है। फरवरी के प्रथम सप्ताह तक इस क्षेत्र में हत्याओं, आगजनी का दौर थमा नहीं है। यहाँ रहने वाले एक ६५ वर्षीय व्यक्ति का कहना है, यह सब पॉलिटिक्स का लफड़ा है। वरना हिन्दू और मुसलमान तो यहाँ सालों से साथ-साथ रह रहे हैं, फिर यह अचानक क्या हो गया ?

अचानक कुछ नहीं हुआ। एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का राजनीतिक लाभ उठाने की एक सोची-समझी साज़िश ने पूरे मुंबई को कई बहरामपाड़ाओं में बाँट दिया। रही-सही कसर झोपड़पट्टियों के दादाओं और अपराध-जगत् के सरगनाओं ने पूरी कर दी। यह एक सच है इन दंगों का। पर पूरा सच नहीं। पूरे सच के लिए दूसरे प्रश्न का उत्तर खोजना होगा-मुंबई ही क्यों झुलसी इन दंगों में?

पहली बात तो यह कि मुंबई लघु भारत है। देश के अलग-अलग हिस्सों से लोग यहाँ आकर न सिर्फ़ रोज़ी-रोटी की जुगाड़ में लगे हैं, बल्कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक धरातल पर भी एक ऐसे समन्वित समाज की रचना में लगे हुए हैं जिसमें पूरा भारत प्रतिबिंबित होता है। इसी के साथ जुड़ा हुआ एक तथ्य यह भी है कि मुंबई समूची भारतीय मानसिकता की भी प्रतीक है। आर्थिक समृद्धि देश का लक्ष्य है, मुंबई इस समृद्ध भारतीय मानसिकता की भी प्रतीक है। मुंबई इस समृद्धि के अवसर उपलब्ध कराती है और यह अहसास भी देती है कि यह समृद्धि सम्भव है। दूसरे, महानगर की एक नई आर्थिक सभ्यता ने धर्म, जाति, वर्ग और वर्ण की सीमाओं को तोड़कर एक नए प्रकार के समाज की रचना की संभावनाओं को उजागर किया है। सहअस्तित्व का एक बहुत अच्छा उदाहरण है मुंबई। भले ही आज इस शहर की समृद्धि को मराठी अस्मिता के साथ जोड़ने की बातें की जा रही हों, पर यह एक वास्तविकता है कि यह शहर सबका है। इस शहर की सभ्यता और संस्कृति को सबने मिलकर बनाया है। मुंबई सपनों के सच होने की प्रक्रियाओं का जीवंत उदाहरण है। यहाँ की विशिष्ट कार्य-संस्कृति पूरे देश के लिए अनुकरणीय है। मुंबई में दंगों का होना इस सबको ध्वस्त करने की कोशिश के रूप में देखा जा सकता है।

समस्या के देखने का एक और पहलू भी है—मुंबई उस नागरी संस्कृति की भी प्रतीक है, जो आज सारे देश में धीरे-धीरे पनप रही है। दंगों को यदि पूरे देश के संदर्भ में देखा जाए तो एक ख़ास बात नजर आती है। वह यह कि कुल मिलाकर अयोध्या कांड से उपजे इन दंगों का विस्तार बड़े नगरों तक ही सीमित रहा है। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार अयोध्या के विवादित ढाँचे को ढहाए जाने के बाद देश में हुए दंगों में मरने वालों की संख्या १७०० के लगभग रही, जिसमें से ११०० से अधिक लोग तो देश के नौ बडे शहरों में मरे। मुंबई का नाम इस सूची में सबसे ऊपर आता है। सरकारी आँकड़े ५०० के लगभग हैं और गैर सरकारी आँकडे ७०० के ऊपर। दूसरा स्थान सूरत का है, जहाँ १८५ लोग मारे गए। भोपाल में मरने वालों की संख्या भी इसी के आस-पास है। मरने वालों

की संख्या की दृष्टि से देखें तो दंगों का सर्वाधिक प्रभाव इन्हीं चार शहरों में दिखता है। इनके बाद जिन शहरों का नाम आता है उनमें कानपुर, बंगलोर, कलकत्ता, हैदराबाद और मैसूर आते हैं। (ये एक दशक पूर्व के आँकड़े हैं)

ये सबके सब देश के औद्योगिक शहर हैं और माना यह जाता रहा है कि ऐसे शहरों की औद्योगिक सभ्यताएँ समुदायों-संस्कृतियों के भेद मिटा देती हैं। पर इस बार का अनुभव तो कुछ और ही कह रहा है। इन दंगों में ऐसे शहर ही ज़्यादा प्रभावित हुए हैं, जिन्हें नई सभ्यता के सिंहद्वार माना जाता है और माना जाता है कि इन शहरों में गंगा-जमुनी संस्कृति के नए संस्करण पनप रहे हैं। हाँ, यह सब हो रहा है इन शहरों में, पर इसके अलावा जो बहुत कुछ इन शहरों में हो रहा है, वह एक ऐसे पर्यावरण का कारण बनता जा रहा है, जिसमें साँस लेना शरीर ही नहीं, दिमाग़ के बीमार होने का कारण बन चुका है। जिस साम्प्रदायिकता का शिकार मुंबई या और शहर हुए हैं, उसके लिए शहरी जीवन की विशेषताएँ और विवशताएँ खाद-पानी का काम कर रही हैं। ग़रीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा और झोपडपट्टियों की अमानुषिक जिंदगी में साम्प्रदायिकता के विषाणु बड़ी आसानी से पलते हैं और रेखागणितीय गतिक्रम में बढ़ते हैं।

[illegible] मुंबई में जिन इलाक़ों में दंगों की विभीषिका सबसे ज़्यादा थी, ये वे इलाके हैं जहाँ ग़रीबी और बेरोजगारी की मार भी सबसे ज़्यादा धारदार है। एशिया की सबसे बड़ी झोपडपट्टी धारावी हो या दंगों की शुरुआत से लेकर अब तक सुलगते रहने वाला बहरामपाड़ा या फिर उजडी बस्ती का ख़ौफ़नाक चेहरा [illegible] में जीने वाली [illegible] झुग्गी-झोपडी वाले इलाकों में हुए जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों नारकीय स्थितियों में साथ-साथ जी रहे थे। इन इलाक़ों में बेरोजगारी और शोषण का बोलबाला तो है ही, अपराधीकरण की एक ऐसी प्रक्रिया भी सतत जारी रहती है, जिसमें विवेक की कहीं कोई भूमिका नहीं होती। ऐसे क्षेत्रों में जीने वाले अभाव की एक ऐसी ज़िंदगी जीते हैं जिसमें पानी, बिजली जैसी सामान्य सुविधाओं के लिए भी एक लड़ाई लड़नी पड़ती है, जिसमें शौच जैसी अनिवार्यता के लिए भी समुचित प्रबंध नहीं होता। अभावों की ऐसी जिंदगी में निराशा और क्रोध स्थायी भाव बन जाते हैं। समाज- शास्त्रियों को इस बात का अध्ययन करना होगा कि अभाव की इस जिंदगी और साम्प्रदायिकता की भावनाओं के भड़कने का रिश्ता क्या है। यह एक तथ्य है कि मुंबई समेत सभी शहरों में जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिक दंगे भडके हैं, उन्हीं

क्षेत्रों में भड़के हैं, जहाँ रोज़ी-रोटी के लिए ग्रामीण इलाक़ों से निकलकर आए ग़रीबों ने डेरे डाले थे। शहर ऐसे लोगों को रोज़गार तो देता है पर आर्थिक विषमताओं से उपजी कुंठा को भी पनपाता है। फिर, ये रोज़गार अकसर स्थायी नहीं होते। बेरोजगारी की स्थिति में अपराध-वृत्ति जनमती है। कुंठा और इस वृत्ति का मेल हिंसा के लिए खाद का काम करता है और हिंसक-वृत्ति को साम्प्रदायिक हिंसा में बदलते देर नहीं लगती। अभावों में जी रहे कुंठित मानस को धर्म के नाम पर भड़काना बहुत आसान होता है और जब ऐसा मानस भड़कता है तो परिणाम वही होते हैं जो हमने मुंबई या कानपुर या सूरत या मैसूर में देखे।

अभावों के इस समाजशास्त्र के साथ ही इन दंगों के संदर्भ में तनाव के उस मनोविज्ञान को भी समझना होगा जो भीतर पल रहे गुस्से के प्रकटीकरण के बहाने खोजा करता है। यह तनाव शहरी जीवन की एक विशेषता है। अभाव, कुंठा, आपाधापी सब मिलकर शहरी जीवन को ऐसे तनाव से भर देते हैं, जो फूट पड़ने के लिए भीतर ही भीतर मचलता रहता है। सांप्रदायिकता का माहौल इस तनाव के फूटने का माध्यम बनता है।

शहरी जीवन का अजनबीपन या बेगानापन फूटने की इस प्रक्रिया को सहज भी बनाता है और तेज़ भी करता है। एक तो दंगा करने वालों की जड़ें शहर में नहीं होतीं और दूसरे भीतर ही भीतर लगातार पनपती कुंठा और हताशा उन्हें अपने आसपास से जुड़ने नहीं देती। इसीलिए युवा अपराधी शहरों में वह सब आसानी से कर लेता है जिसे अपने गाँव में करने की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। रोज़ी-रोटी की तलाश में शहर आए ये संभव-अपराधी इस बात की चिंता से मुक्त होते हैं कि उनकी करनी से परिवार या कुल बदनाम होगा और न ही ये लोग ऐसे किन्हीं स्थायी संबंधों में बँधे होते हैं जो उन्हें अपराध-वृत्ति से रोकने का कारण बन सकें। समाज में इस तबके का कोई स्थान नहीं होता इसलिए किसी तरह की नैतिकता का बोझ भी ये अपने दिमाग पर महसूस नहीं करते।

मुंबई के इन दंगों में यह बात बार-बार उभरकर आई कि बाहरी लोगों ने हमला किया है। बाहरी अर्थात दंगा होने वाले क्षेत्र विशेष से बाहर के लोग। यहाँ भी बात वही है—अजनबीपन। वहाँ जाकर अपराध करना व्यक्ति को आसान लगता है जहाँ उसे पहचाने जाने का ख़तरा नहीं होता। जो मुंबई में हुआ, वही भोपाल में भी हुआ और वही अहमदाबाद में भी। दस-बीस-पचास-सौ-दो सौ की भीड़ कहीं और से आकर किसी क्षेत्र-विशेष को अपना निशाना बनाती है। दादर के असामाजिक तत्व यदि जोगेश्वरी में जाकर दंगा करें

तो एक तो उस भीड़ को पहचाने जाने का ख़तरा नहीं होता और दूसरे संबंध-हीनता की स्थिति उसे किसी भी प्रकार की भावुकता से उबार देती है।

शहरी इलाक़ों में हुए इन दंगों के संदर्भ में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को भी नहीं नकारा जाना चाहिए कि शहरों में, विशेषकर बड़े शहरों में, व्यक्ति स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है। आर्थिक, सामाजिक, मानसिक किसी भी दृष्टि से यह असुरक्षा व्यक्ति को एक तरह की असहायता का बोध कराती है। ऐसे में साम्प्रदायिकता के आधार पर ही सही, किसी समुदाय से जुड़ना व्यक्ति को एक तरह की मानसिक सुरक्षा देने का कारण बन जाता है। तब ऐसे व्यक्ति को यह भी लगता है कि वह किसी समुदाय का हिस्सा है।

इस तरह से किसी समुदाय का हिस्सा बनने का अहसास ही कभी-कभी व्यक्ति को असामाजिक तत्वों से जोड़ता है। मुंबई जैसे शहर में स्लमलार्ड या झुग्गी-झोपड़ियों के दादा कहलाने वाले ऐसे आसामाजिक तत्वों की इस बार के दंगों को फैलने में काफ़ी बड़ी भूमिका रही है। ये दादा ज़मीनों के मालिक नहीं होते पर बर्ताव मालिक-सा करते हैं। ये झोपड़पट्टियाँ बनाते हैं, बनवाते हैं और पैसा कमाकर उन्हें उजाड़ देते हैं—ताकि फिर से पैसा कमाया जा सके। दंगों के दौरान झोपड़पट्टियों में लगी आग का सिलसिला इसका प्रमाण है। क़ानून और व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार एजेंसियों को इस सवाल का जवाब खोजना ही होगा कि हर दंगे में वही-वही झोपड़पट्टियाँ ही क्यों जलती हैं, बड़ी इमारतें क्यों नहीं ? और जब हम इस प्रश्न से रूबरू होते हैं, तो यह तथ्य भी एक भयंकर सचाई बनकर सामने आ जाता है कि दंगों में ग़रीब ही लुटता-मिटता है। हिंसा और गरीबी के इस समीकरण को भी आर्थिक एवं सामाजिक विषमता की घाटियों में जी रहे शहरों के संदर्भ में सहज ही समझा जा सकता है। फिर अब तो इन घाटियों के अलावा इन दंगों के परिणामस्वरूप धर्मों के आधार पर भी मुहल्लों का विभाजन हो रहा है। सुरक्षा के नाम पर ऐसे मोहल्लों का बढ़ना-पनपना समूचे भारतीय समाज को ऐसी दरारों से बाँट देगा, जिनकी गहराई भारत राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व के लिए एक चुनौती बन सकती है। यह चुनौती विकराल रूप ले उससे पहले ही उससे मुक़ाबले की प्रक्रिया शुरू हो जानी चाहिए। उससे पहले यानी आज, कल बहुत देर हो जाएगी।



जुड़ने के पक्ष में

एक पत्रकार को वह युवक साबरमती आश्रम में मिला था। उसी आश्रम में जहाँ कभी गाँधीजी ने 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' का संदेश दिया था और ईश्वर से प्रार्थना की थी, 'सबको सन्मति दे भगवान!' वह युवक गुस्से से उबल-सा रहा था। गुस्से से काँपते होंठों से उसने कहा था, 'अस्सी प्रतिशत मुस्लिम आतंकवादी हैं। ५५ साल से वे यहाँ हम पर हमले कर रहे हैं...'

'आउटलुक' में जब दिलीप डिसूजा का यह विवरण मैं पढ़ रहा था तो मुझे दस साल पुरानी वह घटना याद आ गई, जब मैं एक सेमिनार में भाग लेने के लिए सूरत गया था। उससे कुछ अर्सा पहले ही सूरत दंगों की गिरफ़्त से उबरा था। एक युवक से भेंट हुई थी वहाँ। वह भी गुस्से से तमतमा रहा था। उसने मुझे सूरत के साम्प्रदायिक दंगों की याद दिलाते हुए कहा था, 'देश के बँटवारे के बाद मुसलमानों को इस देश में क्यों रहना चाहिए?'

तब मैंने उससे कहा था, 'इसलिए कि यह देश मुसलमानों का भी है।'

वह मेरी बात से सहमत नहीं था। मेरे तर्कों से भी सहमत नहीं हुआ।

वह युवक अकेला नहीं था। इस तरह के सोच वाला। तब भी ऐसे बहुत-से थे जो उसके सोच से सहमत थे और आज ऐसा सोचने वालों की संख्या शायद बढ़ गई है। ऐसा न होता तो गुजरात में वह सब न हुआ होता जो पिछले दिनों हुआ और अब भी हो रहा है। गोधरा हमारे दुर्भाग्य की कहानी का एक पृष्ठ है और शेष गुजरात दूसरा। पृष्ठ भले ही अलग-अलग हों पर कहानी एक ही है। साम्प्रदायिक वैमनस्य की कहानी, धर्म के नाम पर दूसरे को ओछा समझने की कहानी। वस्तुत: यह कहानी हमारी राष्ट्रीय शर्म की कहानी है और आज यह जहाँ आ पहुँची है, वहाँ इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि यह कहाँ से शुरू हुई, कैसे शुरू हुई। अर्थ सिर्फ़ इस बात का है कि कैसे ख़त्म किया जाए इस कहानी को।

दो महीने हो गए गुजरात को जलते हुए और यह पहली बार नहीं है जब गुजरात साम्प्रदायिकता की आग में जला है। सच तो यह है कि बरसों-बरसों जलता रहा है गुजरात... और देश भी। यह जानते हुए भी कि सह अस्तित्व का विकल्प सहमरण ही हो सकता है, धर्म के नाम पर देश को बाँटने वाले यह मानने के लिए तैयार नहीं कि साझा संस्कृति, साझे विश्वास और साझे आदर्श हमारी ताकत हैं। सूरत वाले उस युवक से मैंने पूछा था, क्या १४ करोड़ मुसलमानों को समाप्त किया जा सकता है ? देश से निकाल दिया जा सकता है या फिर उनकी अवहेलना की जा सकती है ? इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर उसने नहीं दिया था, पर अब कुछ लोग दे रहे हैं उत्तर—उनका उत्तर है, मुसलमान हिन्दू बन जाएँ, मुस्लिम धर्म को फिर से परिभाषित करें। वे साथ ही यह भी जोड़ देते हैं कि हिन्दू का मतलब मंदिर जाने वाला या तिलक लगाने वाला नहीं है, हिन्दू का मतलब है वह जो इस देश की संस्कृति को अपनी संस्कृति समझता है, इस देश की पहचान को अपनी पहचान मानता है। स्वयं को इस देश का हिस्सा मानता है। फिर चाहे वह मुसलमान या ईसाई ही क्यों न हो, कोई अंतर नहीं पड़ेगा। बात ग़लत भी नहीं लगती यह। पर सवाल उठता है, हिन्दू कहने या कहलवाने का आग्रह क्यों ? क्या हम ऐसे व्यक्तित्व को भारतीय के रूप में नहीं पहचान सकते ? गर्व से हम यह क्यों न कहें कि हम भारतीय हैं ? और यदि मैं स्वयं को भारतीय के रूप में पहचानता-मानता हूँ तो फिर इससे क्या अंतर पड़ता है कि मैं आरती करता हूँ अथवा नमाज़ पढ़ता हूँ ?

नहीं पड़ना चाहिए कोई अंतर। पर, दुर्भाग्य से, पड़ रहा है। 'हम' और 'वे' की अवधारणा से उबर ही नहीं पा रहे हम। और इसके साथ ही यह दुराग्रह भी जुड़ जाता है कि हम सही हैं, वे ग़लत हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि न तो 'हम' सब सही हो सकते हैं और न ही 'वे' सब ग़लत। 'हममें' से भी कुछ ग़लत हो सकते हैं और 'उनमें' से भी कुछ सही। पर इस सचाई को हम मानना नहीं चाहते—और अपनी इस ज़िद के चलते देश और समाज को टुकड़ों में बाँट दिया है हमने। गोधरा में सौ-पचास या हज़ार-दो हज़ार ग़लत या अपराधी मुसलमानों ने साबरमती एक्सप्रेस में यात्रा कर रहे हिन्दुओं को जलाकर मारने का नृशंस अपराध किया। इस कुकृत्य की सिर्फ़ भर्त्सना ही हो सकती है और इसके लिए अपराधियों को कड़ी से कड़ी सज़ा मिलनी ही चाहिए। पर सज़ा उन मुसलमानों को भी दी जा रही है जो अपराधी नहीं है। यह सज़ा सिर्फ़ इसलिए कि वे मुसलमान हैं और कुछ लोग यह मानकर चलते हैं कि मुसलमान अच्छा हो ही नहीं सकता। यही तर्क दूसरी ओर भी लागू होता है। जिहाद और क़ाफ़िर

की कथित अवधारणा इसी कुतर्क का परिणाम है। सच तो यह है कि हिन्दू या मुसलमान होने से न कोई अच्छा हो जाता है और न कोई बुरा। अच्छा-बुरा तो व्यक्ति अपने सोच से होता है, अपने कर्म से होता है। वे सब बुरे हैं जिन्होंने गोधरा में निरपराध हिन्दुओं को शिकार बनाया और वे सब भी उतने ही बुरे हैं जो पिछले दो माह से निरपराध मुसलमानों पर निशाना साध रहे हैं।

आज आवश्यकता इस बुराई के ख़िलाफ लड़ने की है, इसे पराजित करने की है। यह काम अच्छे हिन्दू और अच्छे मुसलमान दोनों को करना है। पहली बात तो यह कि मुसलमानों में ऐसा नेतृत्व पनपे जो मुस्लिम समाज के आपराधिक तत्वों के ख़िलाफ आवाज़ उठा सके और बहुसंख्यक भले मुसलमानों को इस देश की मुख्य धारा का हिस्सा बनने, बने रहने की प्रेरणा दे। इसी नेतृत्व का काम यह भी होगा कि वह इस्लाम ख़तरे में है या जिहाद या काफ़िर जैसी कथित अवधारणाओं के ख़िलाफ वातावरण बनाकर आपराधिक तत्वों के पंजे से मुस्लिम समाज को मुक्त कराकर आर्थिक उन्नति, सामाजिक विकास और राष्ट्रीयता के मार्ग पर चलाने की मुहिम छेड़े। यह एक हकीक़त है कि आर्थिक और सामाजिक विकास की मुहिम पर भारत का मुसलमान अन्य वर्गों से पिछड़ा हुआ है। कारण भले ही कुछ भी हों या बताए जाते हों, यह सच है कि मुसलमान बच्चों का छोटा तबका ही शिक्षा के अधिकार को प्राप्त कर पाया है। इनमें से भी अधिसंख्य बच्चे मदरसों की संकुचित सीमाओं-मान्यताओं से नहीं उबर पाते। यह स्थिति बदलनी ज़रूरी है और यह काम सही मुस्लिम नेतृत्व ही कर सकता है। तभी नौकरियों में, व्यापार में या जीवन के अन्यान्य हिस्सों में मुसलमानों को उनका देय मिल सकता है। शिक्षा ही सामान्य मुसलमान को उन तथाकथित जिहादियों के पंजों से मुक्त करा सकती है जो इस्लाम के नाम पर कभी कश्मीर या कभी असम में हिन्दुओं की हत्या करके जन्नत में जगह सुरक्षित कराने के सपने देखते-दिखाते हैं। उनकी इन वहशियाना हरकतों का फल सारे मुस्लिम समाज को भोगना पड़ता है। तभी अहमदाबाद के साबरमती आश्रम में किसी युवक को लगता है कि अस्सी प्रतिशत मुसलमान आतंकवादी हैं या फिर सूरत के किसी युवक के मन में यह सवाल उठता है कि देश के बँटवारे के बाद मुसलमानों को इस देश में क्यों रहना चाहिए।

पर यहीं इस बात को भी रेखांकित किया जाना ज़रूरी है कि साबरमती और सूरत के इन युवकों में नफ़रत या ज़हर भरने का काम जहाँ कुछ अपराधी मुसलमानों ने किया है, वहीं कट्टरपंथी हिन्दुओं का वह तबका भी इसका ज़िम्मेदार है जो कुछ के अपराध के लिए सबको सज़ा देने के अंधेनगरी न्याय में विश्वास

करता है। इन्हीं में वे लोग भी हैं जिन्हें बहुधर्मी भारत की अवधारणा ही समझ नहीं आती। वे हिन्दू धर्म की सहनशीलता की दुहाई देते हैं, पर साथ ही यह भी कहते हैं कि मुसलमानों को इस देश में हिन्दुओं के रहमो-करम पर जीना होगा।

यह सोच ग़लत है। भारत का हर नागरिक, चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाला क्यों न हो, समान अधिकारों को पाने का अधिकारी है और समान कर्तव्यों से भी बँधा हुआ है। महज़ किसी के मुसलमान होने के कारण किसी को भी उस पर शक की उँगली उठाने का अधिकार नहीं मिल जाता। सच तो यह है कि इस तरह के सोच वाला और इस तरह का व्यवहार करने वाला स्वयं राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध काम कर रहा होता है। बहुधर्मी, बहुजातीय एवं बहुआयामी भारत तभी विकास कर सकता है जब हर कोई दूसरे की जाति, दूसरे के धर्म और दूसरे की भाषा का सम्मान करे। दुर्भाग्य से हिन्दुओं में भी ऐसा तबका है जो ऐसा नहीं सोचता। राष्ट्रीय हितों का तकाज़ा है कि वह तबका भी अपने सोच में परिवर्तन लाए। हमारे प्रधानमंत्री कहते हैं कि हमें सेक्यूलरिज़्म का पाठ कोई न पढ़ाए, पर उसी साँस में यह भी कह जाते हैं कि हमने मुसलमानों को, ईसाइयों तथा अन्य धर्म वालों को जगह दी है, सहा है उन्हें। हमारी सहनशीलता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगना चाहिए। यहीं सोच में कुछ गड़बड आ जाती है। आवश्यकता सहने की नहीं, स्वीकार करने की है। सहने में यह भाव निहित है कि तुम ग़लत हो फिर भी हम तुम्हें अपना रहे हैं, जबकि स्वीकार करने में दूसरे की कथित ग़लती की बात कहीं नहीं आती।

एक-दूसरे का स्वीकार ही राष्ट्र की सुरक्षा का आधार है। हमारे समय और हमारे अस्तित्व का तकाजा है कि मिल-बैठकर समस्याओं के समाधान की सामूहिक कोशिश हो। दूसरे को ग़लत समझकर या शंका और घृणा का भाव रखकर बात नहीं बन सकती। उस कटुता और शत्रुता को समाप्त करना ही होगा जो एक भारतीय और दूसरे भारतीय के बीच दीवार खड़ी करती है। हमारी त्रासदी यह भी है कि कट्टरपंथी और आपराधिक ताकतें एक के बाद दूसरी दीवारें खड़ी करने में लगी हैं और शेष भारत दीवारें उठने की इस प्रक्रिया का मूक साक्षी बना हुआ है। हर समझदार भारतीय को दीवार उठाने की ऐसी किसी भी कोशिश को ठोकर मारनी होगी तभी देश और हम सब बरबादी से बच सकेंगे। उम्मीद है मेरी यह बात सूरत वाला मेरा युवा दोस्त पढ रहा होगा। अलगाव नहीं, जुड़ाव हमारी नियति है।



क़ब्र-क़ब्र खेलने की त्रासदी

आठ साल की सबीना और उसके दोस्त 'क़ब्र-कब्र' खेल रहे थे। नहीं सुना होगा आपने इस 'खेल' का नाम। यह खेल सबीना और उसके दोस्तों की खोज है। सबीना अहमदाबाद के एक राहत-शिविर में रहती है। लगभग चार महीने पहले हुए दंगों के बाद से यह शिविर ही उसका घर है। मोहल्ला भी। आइए, आपको बताएँ, सबीना 'कब्र-कब्र' कैसे खेल रही थी। वे बच्चे मैदान में छोटे-छोटे खड्डे खोद रहे थे। फिर उनमें मिट्टी डालते थे और ऊपर एक सफ़ेद पत्थर रख देते थे। किसी ने उन बच्चों से पूछा वे क्या कर रहे हैं ? उत्तर मिला, 'हम कबर-कबर खेल रहे हैं।' 'यह सफ़ेद संगमरमर का टुकड़ा क्या है ?' 'जिसे गाड़ा गया है, उसका नाम लिखा है इस पर', सबीना ने बताया था।

गुड्डे-गुडिया का ब्याह रचाने वाली उम्र में सबीना और उसके दोस्त 'कबर-कबर' खेल रहे थे। जिस उम्र में चारों तरफ़ हँसी बिखरनी चाहिए उस उम्र में इन बच्चों ने अपने माँ-बाप, भाई-बहन आदि को नृशंस तरीक़ों से मारे जाते देखा था। राहत-शिविरों में इनकी ज़िंदगी मौत के इर्द-गिर्द ही घूमती रही। ये बच्चे आज भी भीड़ की बात करते हैं, आग और खून की बात करते हैं। आज भी मौत की बात कुछ इस तरह से करते हैं ये बच्चे जैसे चॉकलेट या खिलौनों की बात कर रहे हों। इसीलिए इन्हें क़ब्र खोदना, उसमें किसी काल्पनिक लाश को दफ़नाकर उस पर मिट्टी डालना, और ऊपर पहचान का पत्थर रखना एक खेल लगता है...खेल, जो इन्होंने एक ऐसी विवशता में सीखा, जिसके लिए इनका बचपन कतई ज़िम्मेदार नहीं है।

अखबार में सबीना के 'खेल' की बात के साथ-साथ एक और बात छपी थी। दस साल की एक बच्ची की बात। वह भी एक राहत-शिविर में रहती थी। उसने कागज की एक गुड़िया बनाई थी। किसी ने उससे पूछा—यह गुडिया क्या है? 'यह अप्पा है, बहुत उदास है अप्पा, क्योंकि कुछ लोग अप्पा के घर से सबकुछ लूटकर ले गए।' अप्पा वह अपनी बड़ी बहन को कहती है।

इस 'सबकुछ' में क्या-क्या था, यह उस बच्ची ने नहीं बताया, पर गुजरात के दंगों में जो कुछ लुटा, उसमें एक चीज़ बचपन भी है। आज जब रथयात्रा के 'शांतिपूर्ण ढंग से' निपट जाने के बाद गुजरात के मुख्यमंत्री राज्य में सामान्य स्थिति लौटने की बात कर रहे हैं, गिल सामान्य स्थिति बहाल होने के बाद गुजरात में अपनी उपस्थिति अनावश्यक मान रहे हैं और उपप्रधानमंत्री आडवाणी राज्य में समय-पूर्व चुनाव के संकेत देने लगे हैं, इस लुटे-पिटे बचपन की याद किसी को क्यों नहीं आ रही ? सामान्य तो गुजरात तब होगा, जब इस बचपन की लुटी किलकारी इसे लौटाई जाएगी। यह बात किसी की समझ में क्यों नहीं आ रही ?

सवाल सामान्य की परिभाषा का है। क्या मतलब होता है किसी राज्य में या किसी घर में स्थिति सामान्य होने का ? इस प्रश्न का एक सीधा-सा उत्तर यह है कि सामान्य स्थिति वह स्थिति होती है जिसमें वह सब कुछ हो सके जो सामान्यतः होना चाहिए। एक घर में सामान्य स्थिति का मतलब है, नन्ही बच्ची अपनी गुड़िया से खेल सके, उसकी माँ चौका-चूल्हा संभाल सके। उसका पिता सबेरे उठकर अपने काम पर जाए, शाम को समय पर घर लौटे। घर के बाहर बच्चे जब चाहें खेल सकें। रात को घर के लोग सोएँ तो इस डर से बार-बार उनकी नींद न टूटे कि रात के अँधेरे में कोई उनके घर पर हमला तो नहीं कर देगा...और इसी तरह राज्य में स्थिति सामान्य होने का सीधा-सा मतलब है कि लोग आश्वस्त होकर खुली हवा में साँस ले सकें, एक-दूसरे को शक की निगाहों से देखें नहीं, सबेरा सबेरे की तरह उगे और साँझ साँझ की तरह ढले। बाज़ारों में व्यापार हो, स्कूलों में पढ़ाई हो। मंदिर में आरती हो, मस्जिद में अजान...।

हो तो रहा है यह सबकुछ गुजरात में, सरकार कह रही है। सही कह रही है। पर, होने और होने में अंतर होता है। रथयात्रा शांतिपूर्ण हुई ही है। पर बीस हज़ार पुलिस वालों की उपस्थिति में रथयात्रा का होना सामान्य स्थिति तो नहीं कही जा सकती। अहमदाबाद के पुलिस कमिश्नर का बयान था, इस यात्रा को शांतिपूर्ण ढंग से करवाने के लिए पूरे एक महीने से राज्य का सारा पुलिस-बल सक्रिय था। पुलिस का सक्रिय रहना एक सामान्य स्थिति है। पर इस तरह सक्रिय रहना असामान्य है। एक शांति सहज होती है। एक शांति कर्फ़्यू लगाकर बनाए रखी जाती है। अंतर होता है दोनों में। कर्फ़्यू वाली शांति समय-विशेष की आवश्यकता हो सकती है, पर समाज की आवश्यकता सहज शांति ही होती है। अभी तक गुजरात में यह सहज स्थिति नहीं बनी है। समय लगता है ऐसे काम में। गुजरात में जो कुछ हुआ वह हमारे समय की भीषणतम त्रासदियों में से एक है। प्रश्न कितने मरे या कितने लुटे या उजडे का नहीं है, यह त्रासदी आपसी विश्वास के टूटने की

त्रासदी है। साथ जीने की शर्तों को इतना कड़ा बनाने की त्रासदी कि उनका पालन ही न हो सके। देश में साम्प्रदायिक दंगे पहले भी होते रहे हैं, इस बार से भयंकर दंगे भी हो चुके हैं। पहले भी लोगों के घर लुटे हैं, जलाए गए हैं। पर पहले इस तरह त्रासदी को कम आँकने की कोशिश नहीं हुई है जैसी इस बार हो रही है। साम्प्रदायिकता को पहले भी राजनीति का हथियार बनाया गया है। पर इस बार राजनीति की चालें कुछ ज़्यादा बेशर्मी से चली जा रही हैं।

होना तो यह चाहिए था कि शासन और समाज की समूची सकारात्मक शक्तियाँ दंगों के बाद स्थिति सामान्य करने के काम में जुट जातीं, पर ज़ोर स्थिति सामान्य बनाने के बजाए सामान्य बताने पर दिया जा रहा है। दंगों की आग की तपन अभी तन-मन को झुलसा ही रही थी कि समय-पूर्व चुनाव की चर्चा शुरू हो गई। यह कहा गया और अब भी कहा जा रहा है कि चुनाव स्थिति को सामान्य बनाने में मददगार हो सकते हैं। जनतांत्रिक व्यवस्था में चुनाव का महत्व स्वयंसिद्ध है, लेकिन चुनाव हर दर्द की दवा नहीं है। सामान्य स्थिति में गुजरात में अभी चुनाव नहीं होने थे, तो फिर गुजरात के मुख्यमंत्री अभी चुनाव क्यों कराना चाहते हैं। चुनाव कराकर वे दो बातें सिद्ध करना चाहते हैं : पहली तो यह कि सारे दंगों के बावजूद गुजरात की जनता का मनोबल गिरा नहीं है और दूसरी यह कि यदि चुनाव में भाजपा जीत जाती है तो वे यह कह सकेंगे कि जनता उनकी सरकार की रीति-नीति से सहमत है। जहाँ तक पहली बात का सवाल है, बिना समय-पूर्व चुनाव कराए भी गुजरात की जनता के मनोबल की थाह ली जा सकती है। रहा सवाल चुनाव जीतकर अपने को सही सिद्ध करने का तो निवेदन यह है कि यदि आज गुजरात में चुनाव होते हैं तो उन्हें साम्प्रदायिकता की आँच पर रोटियाँ सेंकने की कोशिशों के रूप में ही देखा जाएगा। आज यह बात खुलेआम कही जा रही है कि दस वर्ष पूर्व एक रथयात्रा का पूरा चुनावी लाभ भाजपा को मिला था और आज भी साम्प्रदायिकता के उसी रथ पर सवार होकर गुजरात-भाजपा लक्ष्य साधना चाहती है।

बहरहाल, आज आवश्यकता राजनीति के दाँव-पेंचों पर बात करने की नहीं है। आज आवश्यकता मरहम लगाने की है। गुजरात के दंगों में घायल सिर्फ शरीर ही नहीं हुए हैं, मन और मस्तिष्क भी घायल हुए हैं। मरे सिर्फ वे ही नहीं हैं जिन्हें दूसरे धर्म वाले ने मारा, आस्थाएँ और विश्वास भी शिकार हुए हैं सांप्रदायिकता की आँधी उठाने वालों के हाथों। आस्थाओं और विश्वासों के पुनर्निर्माण का काम जब तक पूरा नहीं होता, गुजरात या कोई भी प्रदेश सामान्य

नहीं हो सकता। रथयात्रा के दौरान एक घर में हथियार बरामद हुए थे और यात्रा पर हमला करने के षड्यंत्र का पता चला था। पता चला कि वह व्यक्ति दंगों के दौरान हुई अपने परिवार के लोगों की मौत का बदला लेना चाहता था। किसी भी सभ्य समाज में इस तरह का बदला लेने का अधिकार किसी को नही होता। सज़ा देने का काम कानून और व्यवस्था का है। पर कानून और व्यवस्था में व्यक्ति का विश्वास बना रहे, यह भी ज़रूरी है। इसलिए कोई तरीका ऐसा खोजना ही होगा कि दंगे के अपराधियों को सजा मिल सके। अपराधी को सजा मिलना सामान्य स्थिति है। अपराधी को सज़ा देने के लिए बदले की कार्रवाई करना सामान्य स्थिति नहीं होती। अभी गुजरात में यह विश्वास नहीं पनपा कि अपराधी को सज़ा मिलेगी, तो फिर स्थिति सामान्य कैसे हुई ? अभी वह अप्पा उदास है जिसके घर का सारा सामान दंगाई लूटकर ले गए। जब तक यह उदास बनी हुई है, स्थिति को सामान्य नहीं कहा जा सकता। सामान्य स्थिति में बच्चे गुल्ली-डंडा खेलते हैं, लुकाछिपी खेलते हैं, सटापू खेलते हैं, घर-घर खेलते हैं, गुड्डे-गुडिया का ब्याह रचाते हैं, कब्र-क़ब्र नहीं खेलते।

कब्र-क़ब्र से लेकर घर-घर खेलने तक का सफ़र, दुर्भाग्य से, बहुत लंबा होता है। पर जीवन को सामान्य बनाने के लिए यह सफर तय करना ज़रूरी है। इस सफ़र को तय करने का पहला मतलब भय और अविश्वास की स्थिति को समाप्त करना होता है, पर पिछले चार महीनों में इस दिशा में कोई ठोस कार्रवाई होती दिखी नहीं। यह कार्रवाई ज़रूरी है, ताकि गुजरात का व्यक्ति सामान्य बन सके। तभी स्थिति सामान्य बनेगी। स्थिति सामान्य है, कह देना मात्र पर्याप्त नहीं होता। इसके लिए समाज को तोडने वाले सभी कारकों को कब्र में सुलाकर उस पर एक पत्थर लगाना होगा, जिस पर लिखा हो, यहाँ मनुष्य की पशुता दफन है। यह कार्य तभी हो सकता है, जब हम अपनी-अपनी पशुता को दफ़ना दें। राजनीति के स्वार्थ इस पशुता को मरने नहीं देते, पर लोकहित का तकाजा है कि हम इस पशुता को मारें। तभी कब्र-कब्र खेलने की विवशता से बच्चा उबर पाएगा।



बर्बादी को रोकने का एक ही तरीक़ा है

"आपके हिसाब से कितने दिन और लगेंगे इस देश को पूरी तरह बर्बाद होने में ?"

यह सवाल पूछने वाले युवक का चेहरा तमतमा रहा था। देश बर्बाद होगा इसका उसे पूरा यकीन था। शायद उसने मन ही मन कोई हिसाब भी लगा रखा होगा पूरी बर्बादी के दिन का। वह सिर्फ अपने आकलन की जैसे पुष्टि चाहता था।

"मैं आप जितना निराशावादी नहीं हूँ," मेरा जवाब था।

"क्योंकि आपने शायद यह सच नहीं देखा जो सूरत में मैंने देखा था।"

वह युवक पिछले साम्प्रदायिक दंगों के दौरान हुई विभीषिका को याद कराना चाहता था- और फिर उसने यह कहकर अपनी बात स्पष्ट कर दी कि "देश के बँटवारे के बाद मुसलमानों को इस देश में क्यों रहना चाहिए।"

"क्योंकि यह देश उनका भी है।"

"नहीं है उनका।"

"अच्छा आप बताइए आप क्या करेंगे करोड़ों मुसलमानों का ? मार देंगे उन्हें ?"

यहाँ से बातचीत का सूत्र पास खडे बासु दा ने संभाल लिया था। प्रसिद्ध फिल्मकार बासु भट्टाचार्य ने बडी नरमी से उस युवक से पूछा था, "यह जो तुम्हारा दोस्त नूर मोहम्मद है, इसे मार सकते हो तुम ? नहीं, क्योंकि यह तुम्हारा दोस्त है। यह भी तुम्हें नहीं मार सकता, क्योंकि तुम इसके दोस्त हो। मतलब यह कि यदि दोस्ती हो तो किसी को मारने की जरूरत नहीं पड़ेगी।"

बहस कहीं ख़त्म होनी थी। खत्म हो गई, पर यह सवाल उसके बाद भी गूँजता रहा 'दोस्ती क्यों नहीं हो सकती ?'

इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि हैं कुछ ताकतें जो दोस्ती होने नहीं देतीं। ऐसी एक ताक़त का नाम है वोट की राजनीति। १९०५ में जब अँग्रेज़ों ने धर्म के आधार पर बंगाल को बाँटा था, तो उसके पीछे भी राष्ट्रवादी शक्तियों को कमज़ोर करने की उनकी आवश्यकता थी और आज जब मस्जिदों पर लगे लाउडस्पीकरों की ज़रूरत बखानी जाती है या महाआरतियों को प्रति-हथियार के रूप में काम में लिया जाता है तब भी उसके पीछे राजनीतिक स्वार्थ होते हैं।

एक आरोप कांग्रेस पर अकसर लगता है—वह अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए मुसलमानों को ख़ुश करने और रखने के लिए तुष्टिकरण की नीति अपनाती है। तुष्टिकरण अर्थात् मुसलमानों की जायज़-नाजायज़ माँगों को स्वीकारते जाना। एक सीमा तक यह आरोप सही भी है, हालाँकि, सचाई यह है कि कथित तुष्टिकरण के बावजूद इस देश का आम मुसलमान कुल मिलाकर वहीं खड़ा है, जहाँ चालीस साल पहले खड़ा था। उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थितियों में कोई ऐसा परिवर्तन दिखाई नहीं देता कि उस पर किसी को कोई रश्क हो सके। हाँ, मुस्लिम-नेतृत्व को ज़रूर पाँव रखने की ज़मीन मिली है। अपने नेतृत्व के औचित्य का एक बहाना भी। हक़ीकत तो यह है कि आज़ादी के बाद की हमारी राजनीति में मुसलमानों का उपयोग ही हुआ है। इस उपयोग को दोहन नहीं, शोषण कहा जाना चाहिए। कुछ अर्सा पहले तक अकेली कांग्रेस को इस उपयोग का अधिकार मिला हुआ था। और ख़ूब उपयोग किया उसने। कभी उसने मुसलमान को वोट बैंक की तरह काम में लिया और कभी एक बिजूके की तरह। बीच में यह 'बैंक' किसी और ने हथिया लिया। अब कोई और हथियाने की कोशिश में लगा है। ललचाई निगाहों से देखते हैं वोटार्थी इस बैंक की ओर!

अब एक और वोट बैंक बनाने की कोशिश है—हिन्दू वोट बैंक। वैसे इंदिरा गाँधी भी इस बैंक में चेक भुना चुकी हैं और राजीव गाँधी भी। पर इस बैंक पर एकाधिकार की कोशिश में लगी है भाजपा। प्रयासों का लाभ भी उसे मिला है। भाजपा को वैकल्पिक सरकार बनाने की स्थिति में लाने का सबसे बड़ा श्रेय इस बैंक को है। कल मुसलमानों का उपयोग हो रहा था। आज हिन्दुओं का हो रहा है। धर्म को चुनावी-बाज़ार में बिकने वाली एक वस्तु बनाकर रख दिया गया है। और इस प्रक्रिया में देश के करोडों मुसलमानों को संदेह के घेरे में खींच लाया गया है।

उस दिन बहस के दौरान बासु दा ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में पंडित नेहरू के एक भाषण का उल्लेख किया था। आजादी मिलने के कुछ ही अर्सा

बाद किए गए इस भाषण में पंडित नेहरू ने एक सवाल पूछा था, "यदि ताजमहल या अकबर मेरी संस्कृति का हिस्सा हैं, यदि ताजमहल की कला मेरे लिए गर्व की वस्तु हो सकती है तो आप सब (यानी मुस्लिम छात्र) इस देश के इतिहास की किसी चीज से स्वयं को जोड़कर गौरवान्वित महसूस क्यों नहीं कर सकते ?"

पेच यहीं है। साझा इतिहास और साझी संस्कृति का तकाज़ा है कि इस देश का मुसलमान इस देश की मिट्टी पर गर्व करे, लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि हर कदम पर उसे अपनी निष्ठा का प्रमाण देना चाहिए। यदि ऐसे किसी प्रमाण की आवश्यकता है तो वह हर भारतीय के लिए होनी चाहिए। यदि किसी हिन्दू को यह अधिकार है कि वह किसी मुसलमान से निष्ठा का प्रमाण माँगे तो किसी मुसलमान या सिख या पारसी को भी यह अधिकार है कि वह वैसा ही प्रमाण किसी हिन्दू से माँग सके।

लेकिन बात प्रमाण माँगने या प्रमाण देने से ही समाप्त नहीं हो जाती। बात समाप्त होती है विश्वास के साथ। पारस्परिक विश्वास। यह विश्वास दोस्ती से पनपेगा। वैसी दोस्ती जैसे नूर मोहम्मद और सूरत के उस युवक के बीच है। कोशिश ऐसी दोस्ती की होनी चाहिए। राजनेता यह काम नहीं करेंगे। कर भी नहीं सकते। उनकी ताकत जोड़ने से नहीं, तोड़ने से बढ़ती है। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए जो वोट बैंक राजनेता या राजनीतिक दल बनाते हैं, उनमें चेक भुनाने का अधिकार भी उन्हीं का होता है। इसका मतलब है, उस बैंक से सारा लाभ वही उठा सकते हैं, उठाते भी हैं। पर वोट बैंकों और उनसे लाभ उठाने की इस प्रक्रिया में नुक़सान सारे देश का होता है। सारे देश का यानी मेरा और आपका भी। नुक़सान हमारा हो रहा है, इसलिए चिंता भी हमें ही होनी चाहिए। चिंता इस बात की कि हम कमज़ोर हो रहे हैं। चिंता इस बात की भी कि हम इस कमज़ोरी को महसूस भी नहीं करना चाहते। हमें महसूस करना होगा। बर्बादी हो रही है तो उसे रोकना होगा। पूरी तरह बर्बाद होने की प्रतीक्षा नहीं कर सकते हम। इस बर्बादी को रोकने का एक ही तरीका है–दोस्ती का तरीका। आओ, हम एक-दूसरे के दोस्त बनें। तब हमें एक-दूसरे से डर नहीं लगेगा। आओ, हम सब अपने आपसे यह सवाल पूछें-क्यों नहीं बन सकते हम दोस्त ?



एक जनादेश का मतलब

'सौगंध राम की खाते हैं, हम मंदिर वहीं बनाएँगे,' यह नारा 'अयोध्या-कांड' के दौरान लगना शुरू हुआ था। फिर चुनाव आए, तब भी विश्व हिन्दू परिषद की ओर से राम के बड़े-बड़े पोस्टरों में यह सौगंध ली गई थी। चुनाव परिणाम आए। उत्तरप्रदेश में भाजपा की सरकार बन गई। भाजपा-मंत्रिमंडल ने पहला काम अयोध्या जाकर सामूहिक रूप से शपथ लेने का किया। शपथ राम का मंदिर बनाने की थी—और वहीं बनाने की थी। अयोध्या में ऐसी शपथ पहले भी ली गई है, पर यह पहली बार था, जब एक राज्य की पूरी सरकार वही नारे लगा रही थी, जो कारसेवकों ने लगाए थे।

चुनाव-प्रचार के दौरान भाजपा के बडे नेता इस बात की पूरी सावधानी बरत रहे थे कि उन पर धर्म के नाम पर वोट माँगने का आरोप न लगे। ऐसा नहीं है कि धर्म के नाम पर वोट माँगा नहीं गया। पर यह काम भाजपा ने दूसरों से कराया। हिन्दुत्व को ललकारने वाले और कसमें खाने वाले पोस्टर विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल की तरफ़ से लगे, हिन्दुत्व के नाम पर मंचों से आग उगलने का काम साध्वी ऋतंभरा जैसे व्यक्तियों को सौंपा गया, जो भाजपा के सदस्य नहीं थे। यह सावधानी बरतने का कारण कानूनी चंगुल से बचना मात्र था। अब, चूँकि चुनाव हो चुके हैं, जो वोट मिलने थे मिल चुके हैं, इसलिए ऐसी कोई सावधानी बरतने की आवश्यकता भाजपा महसूस नहीं कर रही। पूरी की पूरी सरकार का अयोध्या जाकर इस तरह शपथ लेना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि जिस हिन्दू वोट बैंक को भाजपा ने चुनाव-प्रचार के दौरान विहिप या बजरंग दल के परदे में भुनाया था, अब वह उसे खुलेआम और मजबूत बनाना चाहती है।

यूँ कहने को अब भी उत्तरप्रदेश के भाजपाई मुख्यमंत्री कल्याणसिंह 'परस्पर सहमति' के लिए वार्ता का रास्ता खोलने और सद्भावपूर्ण वातावरण

में अयोध्या विवाद को हल करने की बातें कह रहे हैं, लेकिन उन्हें अब यह कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि अयोध्या में शपथ लेकर उन्होंने पूरे देश को यह संदेश और संकल्प दिया है कि 'मंदिर बनाना हमारा सीधा लक्ष्य है।' भाजपा के अध्यक्ष मुरली मनोहर जोशी का स्पष्ट कहना है कि 'मंदिर निर्माण और वह भी इसी स्थान पर, इससे कम में कोई समझौता नहीं होगा।'

बहरहाल, यहाँ इस शपथ-प्रकरण का उल्लेख अयोध्या विवाद के संदर्भ में नहीं, भाजपा की 'सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता' के संदर्भ में किया गया है। धर्मनिरपेक्षता को जिन अर्थों में सामान्यत: लिया जाता है, भाजपा उसे छद्म या नकली धर्मनिरपेक्षता मानती है। तो फिर सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता क्या है ? यदि उसका अर्थ वही है, जो उत्तरप्रदेश मंत्रिमंडल की अयोध्या यात्रा से उभरकर सामने आया है तो भाजपा और विश्व हिन्दू परिषद के बीच कोई विभाजक रेखा रह नहीं जाती।

इस प्रकरण ने उन सारे दावों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है जो वाजपेयी या आडवाणी जैसे नेता करते रहे हैं–मुसलमानों के प्रति द्वेषपूर्ण रुख न रखने के दावे, हिन्दुत्व को राष्ट्रवाद का पर्याय बताने के दावे।

यह सही है कि इन चुनावों में केन्द्र में भाजपा की सरकार नहीं बनी, पर उत्तरप्रदेश जैसे महत्वपूर्ण राज्य में बहुमत पाना और संसद की सौ से अधिक सीटों पर विजयी होना कोई छोटी सफलता नहीं है, पर यह सफलता इतनी बड़ी भी नहीं है कि भाजपा सुध-बुध खो बैठे। भाजपा के आधार का विस्तार हुआ है, यह सही है। यह भी सही है कि पहली बार भाजपा को इतने अधिक मतदाताओं का समर्थन मिला है। इतने वोट इससे पहले भाजपा को कभी नहीं मिले थे। पर इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि भाजपा को साम्प्रदायिक होने का जनादेश मिल गया है। भाजपा को जो कुछ मिला, वह हिन्दू-वोट के बल पर मिला, पर भाजपा इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकती कि हिन्दुओं के अल्पमत का समर्थन ही उसे प्राप्त है। यदि इस देश का हिन्दू भाजपा के साथ होता तो आज केन्द्र में कांग्रेस की नहीं, भाजपा की सरकार होती। यही नहीं, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमाचलप्रदेश में मतदाता ने इन राज्यों की भाजपा सरकारों की रीति-नीति को अस्वीकार करने की स्पष्ट घोषणा की है। ऐसे में ज़रूरी है कि भाजपा आत्मान्वेषण करे, सोचे कि जिस हिन्दू वोट को वह 'खाली चेक' समझ रही है, वह उसका कितना मजबूत सहारा है। सोचे, कि जिस सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता की बात वह करती है, उसमें अयोध्या की शपथ

विधि जैसी बातें कहाँ फ़िट बैठती हैं। सोचें, कि विहिप, बजरंग दल, शिवसेना या साध्वी ऋतंभरा किस धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा हैं।

हमने जब धर्मनिरपेक्षता को एक जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकारा और उसे संविधान में जोड़ा, तो उसका मतलब यही था कि स्वतंत्र भारत में राज्य का कोई धर्म नहीं होगा, राज्य के लिए सभी धर्म समान होंगे। पश्चिम में सेक्यूलरिज़्म या धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा चर्च और राज्य के संघर्ष से उपजी थी। संघर्ष प्रधानता का था—चर्च बड़ा या राजसत्ता। और राजसत्ता इस संघर्ष में जीत गई थी—इसका मतलब था राज-काज में धर्म की दखलंदाज़ी नहीं होगी। अर्थात् धर्म के आधिपत्य से राजनीति की मुक्ति ही धर्म-निरपेक्षता की परिभाषा बनी। भारत के संदर्भ में इसका मतलब है, सभी धर्मों को सत्ता का समान संरक्षण। आज़ादी की लड़ाई के दौरान हमने इस सिद्धांत को स्वीकारा था। तब से यह हमारी राजनीति का अविभाज्य अंग बना हुआ है। यह सिद्धांत स्वीकार करके हमने अलग-अलग धर्मों वाले सभी भारतीयों को एक सूत्र में बँधे रहने का एक मंत्र दिया था—और एक आधार भी कि यह देश विभिन्न धर्मावलंबियों का साझा देश है।

पर भाजपा एकता के इस मंत्र को, आधार को, पक्षपात करने का साधन मानने लगी है। उसका कहना है कि धर्मनिरपेक्षता के नाम पर अल्पसंख्यकों को ख़ुश करने की नीति अपनाई गई है। इसलिए वह इस धर्मनिरपेक्षता को नकली मानती है—और इसके मुकाबले में उसने सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा सामने रखी है।

यदि इस सकारात्मकता का मतलब वह 'संदेश' है जो उत्तरप्रदेश के मंत्रिमंडल ने अयोध्या में शपथ लेकर दिया है, तो यह एक ख़तरनाक संकेत है। उससे भी ज़्यादा ख़तरनाक संकेत जो चुनाव-सभाओं में साध्वी ऋतंभरा और विश्व हिन्दू परिषद के नेता दिया करते थे। ज़्यादा ख़तरनाक इसलिए कि यह संकेत राजसत्ता दे रही है—वह राजसत्ता जिसका दायित्व है क़ानून-व्यवस्था बनाए रखना, सब धर्मों-वर्गों को सुरक्षा का अहसास देना, उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने की गारंटी देना।

भाजपा को, और सारे देश को, इस तथ्य को स्वीकारना होगा कि सही अर्थों में जनतांत्रिक समाज में बहुमत की तानाशाही नहीं हुआ करती। दूसरी बात यह स्वीकारनी होगी कि धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिकता का नकार है। धर्मनिरपेक्षता की भावना को मज़बूत करके ही हम साम्प्रदायिकता का प्रभावशाली ढंग से मुकाबला कर सकते हैं। हमारे देश के संदर्भ में इस

धर्मनिरपेक्षता का मतलब उस अनेकता का स्वीकार भी है जो हमारी एकता की कसौटी और गारंटी है। हमारी एकता ही नहीं, जनतंत्र में हमारी आस्था की भी।

राम जन्मभूमि विवाद भी ऐसी ही एक कसौटी है। उत्तरप्रदेश के नए मुख्यमंत्री ने 'वहीं' मंदिर बनाने का अपना 'सीधा लक्ष्य' घोषित किया है और यह विश्वास भी प्रकट किया है कि 'बदली हुई परिस्थितियों में केन्द्र की नई सरकार भी इसमें बाधाएँ खड़ी करने के बजाए समाधान में सहायक होगी।' यदि बदली हुई परिस्थितियों से उनका आशय संसद में भाजपा की बढ़ी हुई सीटों और उत्तरप्रदेश में भाजपा की सरकार बनने से है तो उन्हें यह याद दिलाना ज़रूरी हो जाता है कि इन बदली हुई परिस्थितियों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देश के हिन्दुओं के बहुमत ने साम्प्रदायिकता की उस आँधी के ख़िलाफ़ मत दिया है, जो चुनाव-प्रचार के दौरान भाजपा और उसके सहयोगियों के मंचों से उठाई जा रही थी। बहुसंख्यक हिन्दुओं ने हिन्दुत्व और राम दोनों को वोट बटोरने का साधन बनाने के खिलाफ़ भी मत दिया है। इसलिए जनादेश यदि है तो यह है कि भाजपा बाँटने नहीं, जोड़ने का काम करे, राम की आराधना करे, राम के नाम पर वोट नहीं बटोरे, हिन्दुत्व को राजनीति करने का साधन नहीं बनाए। जनादेश यदि है तो यह कि देश को साम्प्रदायिकता की आग से बचाओ, सिर्फ़ अपने कथित अरमानों को पूरा करने की कसमें खाने के बजाए दूसरों के अरमानों को भी प्यार भरी निगाह से देखो।



'हम' और 'वे' नहीं, सिर्फ़ हम

उस दिन अचानक ही फ़ोन आया था विश्व हिन्दू परिषद के अंतरराष्ट्रीय महासचिव प्रवीण तोगड़िया का। बिना किसी भूमिका के उन्होंने 'सेक्यूलरिस्टों' को खरी-खोटी सुनानी शुरू कर दी और यह भी कहना नहीं भूले कि देश के सेक्यूलरिस्ट यानी पंथनिरपेक्ष लोग विश्व हिन्दू परिषद जैसे संगठनों का काम आसान बना रहे हैं। ये सेक्यूलरिस्ट, उनके अनुसार हिन्दू नहीं हैं। हिन्दू-विरोधी हैं। उनके धाराप्रवाह 'भाषण' के बाद मैंने उनसे हँसते हुए पूछा था, मेरे जैसों को हिन्दू-विरोधी बताकर आप हिन्दुओं की संख्या क्यों कम रहे हैं ? चूँकि मैंने यह बात हँसते हुए की थी, इसलिए वे भी हँस दिए, पर उनकी बातों के पीछे छिपी आक्रामकता और कटुता बहुत देर तक गूँजती रही थी। श्री तोगडिया प्रखर वक्ता हैं, अपनी बात को बहुत दमदार तरीक़े से रखना उन्हें आता है, इसलिए उन्हें एकाएक नकारना सहज नहीं होता। मैं भी सोचता रहा था उनकी बातों पर। आज जब मैं यह लिख रहा हूँ तो अपने आपसे यह सवाल पूछ रहा हूँ कि क्या मैं हिन्दू नहीं हूँ ? हिन्दू तो मैं हूँ, और मुझे भी गर्व है कि मैं हिन्दू हूँ, पर मेरा हिन्दुत्व शायद वह नहीं है, जिसकी वकालत 'हिन्दुत्ववादी' कर रहे हैं। मेरे हिन्दुत्व में किसी से घृणा के लिए कोई स्थान नहीं है। मेरा हिन्दुत्व सारी वसुधा को कुटुंब मानता है। मेरा हिन्दुत्व सर्वे भवंतु सुखिनः में विश्वास करता है...

'हिन्दुत्ववादी' भी नकारते नहीं है इन बातों को, पर इनके साथ किन्तु-परन्तु लगाकर कुछ ऐसा वातावरण बना रहे हैं, जो भारतीय समाज के लिए ख़तरा भी बनता जा रहा है और चुनौती भी। याह आशंका कि आने वाले पाँच-सात दशकों में भारत में हिन्दुओं की संख्या कम हो जाएगी, संभव है, बेबुनियाद न हो, पर इस आशंका के चलते समूचे भारतीय समाज को विभाजित करते चले जाने की प्रक्रिया को स्वीकृति देने का अर्थ अंततः आत्मघात ही हो सकता है। इस आत्मघात का अर्थ उस पहचान को लगातार खोते जाना है, जो हमें अर्थात भारत के हर नागरिक को, एक सूत्र में बाँधे हुए है। यह पहचान भारतीय होने की पहचान है। मैं पहले हिन्दू हूँ और फिर भारतीय अथवा मैं पहले मुसलमान हूँ और फिर

भारतीय, यह विवाद भी बेमानी है, क्योंकि हमारा भारतीय होना ही हमारी असली पहचान है। मैं भारतीय हूँ, यह अहसास जगने का अर्थ है इस सत्य की स्वीकृति कि यह हिमालय मेरा है, यह गंगा मेरी है, यह मंदिर मेरा है, यह मस्जिद मेरी है। भारतीय होने का अर्थ है मैं इस देश की संस्कृति, देश की परंपराओं का हिस्सा हूँ, इस देश का इतिहास मेरा इतिहास है और इस देश का भविष्य मेरा भविष्य है।

पर हमारी त्रासदी यह है कि हम इतिहास का मीठा-मीठा गप करना ही उचित मानते हैं और हमारी हरकतों से पैदा होने वाली भविष्य की कड़वाहट की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इस 'हम' में देश का हर नागरिक शामिल है, भले ही वह किसी भी धर्म या जाति या वर्ण का क्यों न हो। आज जो हो रहा है, उसकी चिंता हमें होनी चाहिए, पर जो हो रहा है, उसके परिणामों की चिंता करने का समय भी आज ही है।

गोधरा-गुजरात के दंगों ने देश में एक बार फिर साम्प्रदायिकता की उस आग को हवा दी है, जो पिछले पचास-साठ सालों में हमें बार-बार झुलसा चुकी है। कहा जा रहा है कि गुजरात शांत है। वहाँ चुनाव-प्रक्रिया की शुरुआत को इस बात को प्रमाण के रूप में सामने रखा जा रहा है कि पिछले फरवरी में जो साम्प्रदायिकता की आँधी चली थी, उससे गुजरात उबर चुका है। पर सवाल मात्र गुजरात के उबरने का नहीं है, उन सबके मनों के उबरने का है जो इस आँधी में बह गए थे, जिन्हें इस आग को हवा देना अपने 'हितों' के अनुकूल लगता है।

एक बात जो देश को समझनी है वह यह है कि धर्म, जाति या राज्य के नाम पर बँटवारे की ज़मीन तैयार करने से राष्ट्रीय एकता की फसल नहीं उग सकती। राष्ट्र को एक रखना है तो वह सोच बदलना होगा, जो हमें टुकड़ों में बाँट रहा है। हिन्दू को समझना होगा कि यह राष्ट्र मुसलमान का भी है और मुसलमान को भी समझना होगा कि राष्ट्र का बहुसंख्यक समाज हिन्दू है, अत. उसकी भावनाओं का भी आदर होना ज़रूरी है। जब ये दोनों अपनी सीमाएँ समझेंगे और एक-दूसरे के हितों-अधिकारों को सम्मान की दृष्टि से देखने की आवश्यकता महसूस करेंगे तभी भारतीय समाज के हित सधेंगे। हर मुसलमान को शक की निगाह से देखना उतना ही ग़लत है जितना हर हिन्दू को देशभक्त होने का सर्टिफिकेट देना। जयचंद और मीरजाफर दोनों समाजों में हुए हैं, होते हैं और होते रहेंगे। पर जयचंद और मीरजाफर समाज नहीं बनाते और न ही समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपवाद होते हैं वे। महत्वपूर्ण अपवाद। पर अपवाद नियम कभी नहीं हुआ करते। इसलिए अपवादों के आधार पर धारणाएँ नहीं बननी चाहिए। अपवाद को अपवाद के रूप में ही स्वीकार करके कोई

रणनीति बननी चाहिए जो आसेतु हिमालय भारतीय समाज के मानवीय नक़्शे में रंग भरने की संभावनाओं को साकार करने का सपना साकार कर सके।

तोगड़िया सही कहते हैं जब वे भारत के मुसलमानों के ख़ून में हिन्दू जीन्स की बात करते हैं। यह बात जितनी मुसलमानों को समझनी है, उससे अधिक हिन्दुओं को समझनी है। भारत में बसे मुसलमान बाहर से नहीं आए थे। यह समझने की बात है। और यह भी समझने की बात है कि मात्र धर्म-परिवर्तन कर लेने से वे बाहर के नहीं हो गए। वे इस देश में जन्मे हैं, इस देश की मिट्टी में पले हैं और इस देश की मिट्टी में ही मिल जाना है उन्हें। आरती करना या नमाज़ पढ़ना उस ईश्वर या ख़ुदा को याद करने का तरीका मात्र है, जिसे हम सृष्टि का जन्मदाता मानते हैं। हमारे संविधान में हमने धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता को एक अधिकार के रूप में स्वीकारा है। हर नागरिक को अपने ढंग से अपने आराध्य की पूजा-अर्चना का अधिकार है। और यह एक सचाई है कि दूसरे के अधिकार की रक्षा करके हम अपने अधिकार के आधार को ही मज़बूत करते हैं। जब यह तय है कि मुसलमानों की रगों में भी हमारे पूर्वजों का ख़ून बहता है और यह भी हम स्वीकार करते हैं कि पूजा-अर्चना की भिन्न विधि अपनाने का अर्थ किसी को भारतीय नागरिकता के किसी अधिकार अथवा कर्तव्य से वंचित करना नहीं है, तो एक ही बात बच जाती है स्वीकार करने के लिए—सह अस्तित्व।

सह अस्तित्व का अर्थ है साथ जीना। यह साथ जीना हमारी विवशता भी है, आवश्यकता भी और सार्थकता भी। हिन्दुओं को यह समझना होगा कि न तो इस देश के १९ करोड़ मुसलमान को मिटाया जा सकता है और न ही निकाला जा सकता है। वे इस मिट्टी में जन्मे-पले हैं, यहीं रहेंगे। साथ जीने की यह एक ऐसी विवशता है जिसे आवश्यकता के अर्थों में भी समझा जाना ज़रूरी है। देश की आबादी के इतने बड़े हिस्से को संदेहों के घेरे में बंदी बनाकर अथवा पृथक समझकर अलग-थलग करना या समझना न तो उचित है और न ही व्यवहार्य। कोई रास्ता ऐसा निकालना ही पड़ेगा कि देश की आबादी के एक बड़े हिस्से को मुख्य धारा से जोड़ा जाए, मुख्य धारा का हिस्सा समझा जाए। इसके लिए ज़रूरी है एक ऐसा सोच जो 'हम' और 'वे' की भाषा में नहीं, सिर्फ हम की भाषा में बात करे। 'हम भारत के लोग', चाहे किसी भी जाति या धर्म या वर्ग के क्यों न हों, भारतीय हैं। जिस दिन हम स्वयं को पहले भारतीय मान लेंगे, उस दिन सिर्फ 'हम' रह जाएँगे 'वे' नहीं। तब हम न 'सबक सिखाने' की बात करेंगे और न ही यह कहेंगे कि गुजरात एक प्रयोग था, जो शेष भारत में दुहराया जा सकता है।

लेकिन, 'हम' और 'वे' के बीच की इस खाई को पाटने का काम किसी

एक पक्ष का नहीं है। इस देश के मुसलमानों को भी इसमें सक्रिय और सार्थक भूमिका निभानी है। यह इस देश के मुसलमानों और कुल मिलाकर पूरे देश का दुर्भाग्य रहा है कि पिछली आधी सदी में मुसलमानों के बीच कोई ऐसा नेतृत्व नहीं पनपा जो मुसलमानों को कथित धार्मिकता की गलियों से उठाकर आधुनिकता के राजमार्ग पर पहुँचाने की बात सोचता। सोचता कि मुसलमान पिछड़े हुए क्यों हैं। सोचता कि मुसलमानों में शिक्षा का प्रतिशत अपेक्षित गति से क्यों नहीं बढ़ रहा। सोचता कि 'वंदे मातरम्' बहुत से मुसलमानों के दिमाग में विवाद क्यों बन जाता है। आज भारत के मुसलमानों को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है, जो उन्हें कह सके कि माँ को सलाम करना हमेशा सही होता है, कि हमारा भाग्य इस देश के भाग्य से जुड़ा है कि वे मुसलमानों और इस्लाम के दुश्मन हैं जो इस देश के शेष नागरिकों से मुसलमानों को अलग-थलग करने की साजिश का हिस्सा बने हुए हैं। इसी विवेकशील नेतृत्व का यह काम होना चाहिए कि वह मुसलमानों को बताए-समझाए कि शाहबानो के मामले में उनकी जीत नहीं, हार हुई थी, लेकिन, कब पनपेगा ऐसा नेतृत्व ? आधुनिक विचारों वाला ऐसा नेतृत्व भारतीय मुसलमानों की एक बड़ी आवश्यकता है।

सच बात तो यह है कि ऐसा विवेकशील नेतृत्व देश के हर वर्ग को चाहिए, जो जोड़ने की बात करे, तोड़ने की नहीं। ऐसा नेतृत्व ही धर्म को राजनीति का मोहरा बनने से रोक सकता है। बाबा आमटे ने भारत जोड़ो की बात कही थी। देश का दुर्भाग्य है कि वह लगातार इस नारे को भुलाने में लगा है, पर दुर्भाग्य को बदला जा सकता है- और यह काम सिर्फ हम कर सकते हैं। हम यानी हम सब भारतीय !



जब कोई शिवसेना हारती है

मुंबई महानगरपालिका के चुनावों में शिवसेना हार गई। उसे हारना ही था। नगर-प्रशासन के संदर्भ में पिछले सात साल का कार्यकाल सार्वजनिक दृष्टि से उपलब्धियों का कोई ऐसा पिटारा नहीं था, जिसके भरोसे वह यह मानकर बैठ सकती कि मतदाता उसकी जेब में हैं। पर अहसास उसने यही दिया। इसीलिए शिवसेना ने इस चुनाव में कोई घोषणा-पत्र जारी नहीं किया। उल्टे शिवसेना सुप्रीमो ने अपनी सभाओं में बार-बार यही कहा कि उनकी पार्टी का काम ही उनका घोषणा-पत्र है। मतदाता को यह 'घोषणा-पत्र' पसंद नहीं आया। उसने शिवसेना को नकार दिया।

कारण गिनाने को बहुत से गिनाए जा सकते हैं इस हार के। गिनाए भी जा रहे हैं- भाजपा से गठबंधन का टूटना, शिवसेना में छगन भुजबल जैसे लोगों का विद्रोह, विद्रोही उम्मीदवारों का बाहुल्य, चुनाव में कथित धाँधलेबाज़ी, जनता दल की कमजोर स्थिति के कारण दलितों-मुस्लिमों का कांग्रेस की ओर झुकाव... आदि। निश्चित रूप से ये सब शिवसेना की हार के कारण हैं- पर मात्र यही कारण नहीं है। इस हार के लिए स्वयं शिवसेना भी ज़िम्मेदार है—और बहुत हद तक ज़िम्मेदार है। संभव है, शिवसेना का नेतृत्व भी इस बात को समझ रहा हो, पर स्वीकार नहीं कर रहा वह। स्वीकार कर भी नहीं सकता, क्योंकि इसे स्वीकारने का मतलब है स्वयं नेतृत्व और उस नेतृत्व-शैली की विफलता को स्वीकारना, जिसने शिवसेना को पाला-पोसा है।

पचीस साल पहले जब शिवसेना का जन्म हुआ तो यह एक राजनीतिक पार्टी नहीं थी। क्षेत्रीयता की खतरनाक, लेकिन मजबूत पुकार को इसने अपना आधार बनाया था। तब शिवसेना-प्रमुख का हथियार मुंबई की टेलीफोन डायरेक्टरी होती थी, जिसमें हर अक्षर के नामों वाली सूची में दक्षिण भारतीय नामों की लंबी कतारें हुआ करती थीं। ये सूचियाँ दिखाकर शिवसेना के नेतृत्व

ने बेरोज़गार मराठी युवकों का मन भी जीता था और उन्हें आंदोलित भी किया था। इसके कुछ साल बाद तक, या यूँ कहें सत्तर के दशक में, शिवसेना ने इसी भावुक युवा-मन की भावनाओं को अपना हथियार बनाए रखा। रोज़ी-रोटी का आश्वासन मराठी युवाओं को शिवसेना के साथ जोडे रखने के लिए पर्याप्त था। इसी दौरान शिवसेना की लड़ाकू छवि भी स्पष्ट और मज़बूत होती रही। लोग शिवसेना से डरने लगे। पर उसका आधार मज़बूत हो रहा था। इस बीच कांग्रेसी नेतृत्व की प्रच्छन्न सहायता ने न केवल शिवसेना को मज़बूत बनाया, बल्कि उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को भी आकार दिया। भगवा शिवसेना की महत्ता और सत्ता दोनों का प्रतीक बन गया। जन-आंदोलन शिवसेना की शैली बन गए। अकसर ये आंदोलन उच्छृंखल हो जाते थे। आम जनता इस उच्छृंखलता से त्रस्त ही होती थी, पर शिवसेना का नेतृत्व इसे अपनी ताक़त समझता था। इसी ताकत के बल पर शिवसेना मुंबई में अघोषित राज करने लगी। ठाकरे जब चाहते थे, मुंबई बंद करा सकते थे। उन्हें जॉर्ज फर्नांडीस की तरह इसके लिए महीना भर तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी। १९८५ तक पहुँचते-पहुँचते शिवसेना इतनी ताक़तवर हो चुकी थी कि मुंबई महानगरपालिका पर उसका कब्ज़ा हो गया। 'मराठी माणुस' और मराठी अस्मिता से शुरू हुई यात्रा राजनीतिक उपलब्धियों का माध्यम बन गई। अब शिवसेना महाराष्ट्र विधानसभा पर भगवा फहराने के सपने देखने लगी थी। इसी प्रक्रिया में मुंबई से बाहर भी उसका प्रचार-प्रसार हुआ। ठाणे, पुणे, औरंगाबाद, नासिक आदि जगहों पर उसकी जय-जयकार पश्चिम महाराष्ट्र से लेकर मराठवाड़ा और विदर्भ तक गूँजने लगी थी।

फिर 'हिन्दुत्व' की लहर आई। भारतीय जनता पार्टी के साथ मिलकर शिवसेना ने हिन्दू अस्मिता के नाम पर विधानसभा और लोकसभा का चुनाव लडा। महाराष्ट्र विधानसभा में शिवसेना प्रमुख विपक्षी दल बन गया। लोकसभा में उसके सदस्य पहुँच गए। राज्यसभा में भी उसका प्रतिनिधित्व होने लगा। मराठी अस्मिता की जगह अब शिवसेना का नेतृत्व 'हिन्दू अस्मिता' की बात करने लगा था। इससे शिवसेना का आधार व्यापक हुआ। पर यह व्यापकता जल्दी ही कमज़ोरी भी बन गई।

शिवसेना की दूसरी कमज़ोरी उसका नेतृत्व बना। शुरू से ही श्री बाल ठाकरे ने इसे एक ऐसे संगठन के रूप में विकसित किया था, जिसमें नेता ही नियम होते हैं और नेता ही संविधान। बाल ठाकरे अपनी इस कृति के एकछत्र नेता थे। तानाशाह। उन्होंने इस बात को कभी छिपाया भी नहीं। इस बात को भी नहीं कि

उनकी आस्था तानाशाही में है। उस तानाशाही में प्रश्न नहीं किए जा सकते, सिर्फ़ आज्ञा का पालन हुआ करता है। उस तानाशाही में यह मानकर चला जाता है कि नेता जो करता है सही करता है- या यूँ कहना चाहिए कि नेता ग़लत कर ही नहीं सकता। वैसे, यही बात एक तरह से शिवसेना की ताकत भी रही। 'सर-सेनापति' के कठोर अनुशासन में वह एक ऐसी ताकत बनी रही, जो अपने नेता से ऊर्जा भी लेती और उसके प्रभामंडल में आलोकित होकर स्वयं को गौरवान्वित भी महसूस करती थी। ऐसा नहीं है कि शिवसेना में और नेता नहीं रहे, पर इनमें से किसी के भी कद को 'सर सेनापति' ने कभी ऊँचा नहीं होने दिया। सेनापति का क़द लगातार ऊँचा होता गया–बाल ठाकरे से बाला साहेब ठाकरे, शिवसेना प्रमुख से हिन्दू हृदय सम्राट तक की यह नेतृत्व-यात्रा नेता के उस बढ़ते कद की परिचायक है, जिसके समक्ष शेष सबका छोटा दिखना ज़रूरी होता है।

इसलिए जब विशालकाय क़द के किसी ऐसे नेता की पार्टी कोई बडा चुनाव हारती है- जैसा कि मुंबई में या महाराष्ट्र में कई अन्य जगहों पर हुआ–तो यह हार मात्र उस पार्टी की हार नहीं होती। यह हार उस नेता की होती है, जो पार्टी का पर्याय होता है। यह हार उन मूल्यों, आदर्शों, सिद्धांतों की होती है, जो ऐसा सर्वसत्तावादी नेतृत्व प्रचारित-प्रसारित करता है। जब कोई शिवसेना हारती है, तो उसका मतलब यह होता है कि मतदाता ने उन संकीर्ण स्वार्थों, थोथे आदर्शों को नकारा है, जो राजनीति को अकसर दलबल बना देते हैं।

मराठी माणुस से लेकर हिन्दू-अस्मिता तक की शिवसेना की यात्रा के दौरान कभी कहीं ऐसा नहीं लगा कि यह पार्टी सार्वजनिक जीवन के स्तर को उठाने के लिए प्रयत्नशील है अथवा इस पार्टी के कर्ता-धर्ता सामाजिक हितों की राजनीति करना चाहते हैं। वैसे देखा जाए तो क्षेत्रीयता अपने आपमें कोई अपराध नहीं है। पर, क्षेत्रीयता के संकीर्ण गलियारों में जन-भावनाओं को उभारने वाले नारे लगाकर जन-मानस को एक ऐसे सोच में बंदी बनाए रखना अवश्य अपराध है, जो उसे व्यापक सामाजिक हितों और वृहत्तर सामाजिक दृष्टि से काट दे। शिवसेना जैसे दल ऐसा ही करते हैं–क्योंकि ऐसा करना उनके अस्तित्व की एक ज़रूरी शर्त होता है।

सात साल का लंबा अर्सा दिया था मुंबई की जनता ने शिवसेना को। शिवसेना चाहती तो इस अर्से में स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर एक मज़बूत और सही दिशा में कार्यशील ताकत बन सकती थी। पर इस तरह के दलों का ढाँचा ही कुछ ऐसा होता है कि उससे बहुत अधिक अपेक्षाएँ करना गलतफ़हमी ही हो सकती है। कुछ हद तक नासमझी भी।

यह ग़लतफ़हमी शुरू-शुरू में बनी भी थी। लगने लगा था कि कांग्रेस-संस्कृति से हटकर कुछ नया, कुछ अच्छा करेगी यह पार्टी। पर इस पूरे कार्यकाल में शिवसेना को वह विश्वसनीयता या सम्मान कभी नहीं मिला जो इतने लंबे अर्से तक करोड़ों रुपए के बजट वाले किसी नगर निगम पर शासन करने वाली किसी पार्टी को मिलना चाहिए। बावजूद इसके शिवसेना की ताक़त ज़रूर बढ़ती गई- १९८५ में इसने मुंबई मनपा पर झंडा फहराया। तीन साल बाद औरंगाबाद नगर निगम इसके हाथ में आ गया। फिर ठाणे मनपा पर क़ब्ज़ा करके इसने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने का प्रमाण दिया। १९९१ में यह महाराष्ट्र विधानसभा में प्रमुख विपक्षी दल बन गया। पर प्रभाव विस्तार के इस घटाटोप में कहीं ऐसी जगह भी आई जहाँ इसकी विश्वसनीयता और सम्मान इसकी मुट्ठियों से झरने लगा। सत्ता का सही उपयोग करना शायद शिवसेना को कभी नहीं आया। इसलिए वह वही करने लगी जो आसान था—सत्ता का दुरुपयोग। इस सत्ता ने उसे घमंडी भी बना दिया, जो ऐसे किसी भी दल की स्वाभाविक परिणति है। बाला साहब ठाकरे के भाषणों में यह घमंड हमेशा झलकता रहा। यहाँ तक कि अपराधियों को उम्मीदवार बनाने को भी वे हिम्मत का काम बताने लगे। यह तभी होता है। जब नेता स्वयं को सर्वशक्तिशाली समझने लगे। शिवसेना जैसे दल में किसी भी एकछत्र नेता को यह अहसास वास्तविकताओं की धरती से उठाकर खुशफ़हमी के बादलों तक ले जा सकता है। सच पूछा जाए तो इस तरह के दल एक सीमित भूमिका तक ही उचित जान पड़ते हैं। यदि मराठी नवयुवकों के कल्याण तक ही शिवसेना अपने आपको सीमित रखती, तो शायद एक सार्थक भूमिका निभा भी सकती थी। पर लगातार मिलती सफलताओं ने शिवसेना के नेतृत्व को ग़लत अहसास दिए। आतंक की शैली में कार्य करना इसकी आदत बन गई। दलीय ढाँचे के जनतंत्रीकरण में ऐसा दल विश्वास नहीं कर सकता, इसलिए इसे वे खुली खिड़कियाँ कभी नहीं मिलीं, जिनमें से होकर स्वास्थ्यवर्धक हवा भीतर आ सकती।

ऐसे माहौल की घुटन में असंतोष और विद्रोह पनपना एक स्वाभाविक परिणति है। वही हुआ भी। छगन भुजबल जैसे व्यक्ति का विद्रोह एक ऐसे तिलिस्म को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ, जिसके सहारे शिवसेना का एकाधिकारवादी नेतृत्व अपना करिश्मा बनाए हुए था। क्षेत्रीयता, जातीयता और सांप्रदायिकता जैसी बैसाखियों के सहारे कोई नेतृत्व अपनी ऊँचाई का भ्रम हमेशा-हमेशा के लिए नहीं बनाए रख सकता। वह भ्रम टूटता ही है। टूटना भी चाहिए।

पर इस भ्रम के टूटने का मतलब यह नहीं है कि शिवसेना मर गई। वह ज़िंदा है। यह बात दूसरी है, वह वहीं जा पहुँची, जहाँ से २५ साल पहले उसने यात्रा शुरू की थी। आंदोलन, नारे, प्रदर्शन अब फिर शुरू होंगे, क्योंकि इन्हीं के सहारे इस तरह के दल खडे होते हैं। जनतंत्र में इन सबका निश्चित स्थान है- और महत्व भी। पर जब ये सब अस्तित्व-रक्षा का माध्यम बन जाएँ तो अकसर नेतृत्व अपनी सही भूमिका निभाने में विफल हो जाता है। ये सब उसके सिर पर चढ़कर बोलने लगते हैं। यह ख़तरा शिवसेना के संदर्भ में स्पष्ट दिख रहा है। पर इनके माध्यम से उपलब्धियों के टीलों पर पहुँचने वाला नेतृत्व यह बात समझने में समर्थ नहीं हो पाता कि टीले पहाड़ नहीं होते। शिवसेना जैसे दल उन्माद की राजनीति पर पलते हैं। जनभावनाओं को उभारकर अपनी रोटी सेंकते हैं। अपने स्वार्थों की पूर्ति से परे के यथार्थ से उनका कोई रिश्ता नहीं होता। अपने पाँवों के नीचे दबी अपनी ही छाया से वे आत्ममुग्ध से रहते हैं। जनाधार न उनकी ज़रूरत होती है, न उनका माध्यम।

उन्माद किसी भी राजनीति का स्थायी भाव नहीं हो सकता। वह एक ज्वार होता है, जिसे उतरना ही होता है। शिवसेना को यदि सचमुच राजनीति में रहना है तो उसे उन्मादी ज्वार के इस घोडे से उतरना होगा। पर शिवसेना का नेतृत्व यह होने नहीं देगा, क्योंकि ऐसा होने का मतलब नेतृत्व की उस छवि का समाप्त होना होगा, जो किसी एक नेता को यह कहने का अवसर देती है कि मैं ही पार्टी हूँ, मैं ही पार्टी का संविधान हूँ, मैं जब चाहूँ इस पार्टी को भंग कर दूँगा। क्या कोई बाल ठाकरे ऐसा अवसर छोड़ना चाहेगा?



यह गलतफहमी शुरू-शुरू में बनी भी थी। संस्कृति से हटकर कुछ नया, कुछ अच्छा करेग. कार्यकाल में शिवसेना को वह विश्वसनीयता या श इतने लंबे अर्से तक करोड़ों रुपए के बजट वाले f करने वाली किसी पार्टी को मिलना चाहिए। बावजू ज़रूर बढ़ती गई- १९८५ में इसने मुंबई मनपा पर इ औरंगाबाद नगर निगम इसके हाथ में आ गया। फि इसने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने का प्रमाण दिया विधानसभा में प्रमुख विपक्षी दल बन गया। पर प्र में कहीं ऐसी जगह भी आई जहाँ इसकी विश्वस मुट्ठियों से झरने लगा। सत्ता का सही उपयोग कर नहीं आया। इसलिए वह वही करने लगी जो आ इस सत्ता ने उसे घमंडी भी बना दिया, जो ऐसे f परिणति है। बाला साहब ठाकरे के भाषणों में यह यहाँ तक कि अपराधियों को उम्मीदवार बनाने के लगे। यह तभी होता है। जब नेता स्वयं को श शिवसेना जैसे दल में किसी भी एकछत्र नेता को की धरती से उठाकर ख़ुशफ़हमी के बादलों तक ले तो इस तरह के दल एक सीमित भूमिका तक ही उ नवयुवकों के कल्याण तक ही शिवसेना अपने अ एक सार्थक भूमिका निभा भी सकती थी। पर र शिवसेना के नेतृत्व को ग़लत अहसास दिए। उ इसकी आदत बन गई। दलीय ढाँचे के जनतंत्रीक कर सकता, इसलिए इसे वे खुली खिड़कियाँ क स्वास्थ्यवर्धक हवा भीतर आ सकती।

ऐसे माहौल की घुटन में असंतोष और f परिणति है। वही हुआ भी। छगन भुजबल जैसे तिलिस्म को तोड़ने वाला सिद्ध हुआ, f एकाधिकारवादी नेतृत्व अपना करिश्मा बनाए हु और सांप्रदायिकता जैसी बैसाखियों के सहारे ब भ्रम हमेशा-हमेशा के लिए नहीं बनाए रख सक टूटना भी चाहिए।

सकते हैं, लेकिन तात्कालिक प्रतिक्रिया के बावजूद न तो इसे स्वीकृति मिल जाती है और न ही वैधता या तर्क संगति। वह प्रतिक्रिया गलत थी, समाज-विरोधी थी। मनुष्य विरोधी थी।

फिर ६ जनवरी को मुंबई में जो कुछ हुआ वह ग़लत तो था ही, अपराध भी था। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने इसे एक 'सुनियोजित षड्यंत्र' कहा है और षड्यंत्र से उनका अभिप्राय उनकी सरकार के खिलाफ षड्यंत्र है। उन्होंने इस बात को बार-बार रेखांकित करने का प्रयास किया है कि इन दंगों के पीछे साम्प्रदायिक तत्वों का हाथ होने के साथ-साथ वे माफिया तत्व भी थे, जिन्हें उनकी सरकार ने बेनकाब किया था। ज्ञातव्य है कि पिछले कुछ अर्से में महाराष्ट्र सरकार ने दो कांग्रेसी विधायकों-हितेन्द्र ठाकुर और पप्पू कालाणी को टाडा के अंतर्गत गिरफ्तार किया था। इन दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में आपराधिक तत्वों का सरगना बताया जा रहा है। महानगर में अनधिकृत इमारतों को ध्वस्त करने की सरकार की कार्रवाई से भी असामाजिक तत्व सीधे प्रभावित हुए थे और कोई आश्चर्य नहीं कि सरकार से बदला लेने के लिए उन्हें यह मौका उपयुक्त लगा हो। तीसरे, उजड़ी बस्तियों की ख़ाली ज़मीन से बिल्डर लॉबी का स्वार्थ भी जुडा हुआ है।

इस मौके का उपयोग राज्य सरकार को बदनाम करने के लिए किया गया। यह एक सचाई है कि इन दंगों के दौरान मुंबई में अराजकता की स्थिति थी। दंगों पर काबू पाने के संदर्भ में राज्य सरकार पूरी तरह विफल रही थी और मुख्यमंत्री यह कहकर अपनी अक्षमता छिपा नहीं सकते कि वे एक षड्यंत्र के शिकार हुए हैं। यदि यह षड्यंत्र था तब भी किसी भी सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह षड्यंत्र का भाँडा फोडकर अपराधियों को सजा देगी, लेकिन जिस गति से दंगों को फैलने दिया गया वह इस बात का प्रतीक है कि सरकार के हाथ से शासन के सूत्र फिसलते जा रहे थे।

इस फिसलन की शुरुआत पिछले दंगों से हो गई थी, जिनमें २२७ लोग मारे गए थे- अधिसंख्य पुलिस की गोलियों से। तब दंगे थमे तो थे, पर मुंबई के अलग-अलग इलाकों में, ख़ासकर एशिया की सबसे बडी झोपड बस्ती धारावी में, छुट-पुट घटनाएँ होती ही रहीं और अयोध्या कांड के ठीक एक महीने बाद ६ जनवरी को धारावी समेत मुंबई के कुछ अन्य मुस्लिम बहुल इलाकों में हिंसा फूट पडी। इसी दिन हिंसा के इस कुंभ का शुरू होना ही इसे एक नियोजित कार्यक्रम होने का संकेत देता है (राज्य के खुफ़िया तंत्र ने इस सरकार को इस बात से आगाह भी किया था)। डोंगरी में दो माथाडी कामगारों की हत्या ने बारूद में आग का काम किया। पता नहीं यह मजदूर-यूनियनों के भीतरी झगडों का परिणाम था या दंगे भड़काने

महानगर पागल क्यों हो गया था

दिसम्बर १९९२ के पहले सप्ताह में हुए भीषण दंगों की दहशत से अभी मुंबई उबरा ही नहीं था कि जनवरी के शुरू होने के साथ-साथ फिर दंगे शुरू हो गए। पहले ये दंगे मुंबई के एक क्षेत्र-विशेष तक सीमित थे, पर इस बार समूचा मुंबई दंगों की चपेट में आ गया- 'मुंबई जल रहा है' ये शब्द नगर में सबकी ज़ुबान पर थे। इस बार के दंगों में ६०० से अधिक व्यक्ति मारे गए, सैकड़ों दुकानें और व्यावसायिक प्रतिष्ठान जलाकर राख कर दिए गए और लाखों लोग बेघरबार हो गए और अब सवाल यह पूछा जा रहा है कि यह सब हुआ कैसे ? दंगों के पीछे कौन-सा दिमाग और कौनसे हाथ काम कर रहे थे ? महाराष्ट्र सरकार ने इन सवालों का जवाब खोजने के लिए न्यायिक जाँच के आदेश दिए हैं। इस जाँच का परिणाम क्या निकलेगा और कब तक निकलेगा यह तो आने वाला कल ही बताएगा, पर फ़िलहाल मोटे तौर पर जो कारण गिनाए जा रहे हैं, उनमें साम्प्रदायिकता के साथ-साथ असामाजिक तत्वों की भूमिका प्रमुख है। स्वयं मुख्यमंत्री ने कहा है कि दंगों के पीछे स्लम-दादाओं और ज़मीन के माध्यम से अपनी ताक़त बढ़ाने वालों का हाथ है। प्रधानमंत्री ने भी एक दिन के मुंबई दौरे के बाद इस बात की पुष्टि की थी और रक्षामंत्री भी लगभग एक सप्ताह तक मुंबई में डेरा डालने के बाद इसी तरह के निष्कर्षों पर पहुँचे थे। सत्ता के शीर्ष से जुड़े इन व्यक्तियों के अनुमानों को मात्र कल्पना की उडान नहीं कहा जा सकता। सूचना जुटाने के ठोस सूत्र इनके पास हैं। इसलिए इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि इन दंगों के पीछे कोई एक कारण नहीं, बल्कि कई कारणों का एक समूह है। पर बात यहीं ख़त्म नहीं हो जाती—यहाँ से शुरू होती है। और बहुत दूर तक जाती है।

६ दिसम्बर को अयोध्या में जो कुछ हुआ था, उसका सीधा असर मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों पर पडा था। मुसलमान मन संतप्त था और हिन्दू मन जो कुछ हुआ उससे शत-प्रतिशत सहमत न होने के बावजूद एक सीमा तक यह मानकर संतुष्ट था कि चलो, टंटा मिटा। ७ दिसम्बर को मुंबई में हुए दंगे संतप्त मुसलमान की भावनाओं का तात्कालिक उद्रेक कहे जा

सकते हैं, लेकिन तात्कालिक प्रतिक्रिया के बावजूद न तो इसे स्वीकृति मिल जाती है और न ही वैधता या तर्क संगति। वह प्रतिक्रिया ग़लत थी, समाज-विरोधी थी। मनुष्य विरोधी थी।

फिर ६ जनवरी को मुंबई में जो कुछ हुआ वह गलत तो था ही, अपराध भी था। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने इसे एक 'सुनियोजित षड्यंत्र' कहा है और षड्यंत्र से उनका अभिप्राय उनकी सरकार के खिलाफ़ षड्यंत्र है। उन्होने इस बात को बार-बार रेखांकित करने का प्रयास किया है कि इन दंगों के पीछे साम्प्रदायिक तत्वों का हाथ होने के साथ-साथ वे माफ़िया तत्व भी थे, जिन्हें उनकी सरकार ने बेनकाब किया था। ज्ञातव्य है कि पिछले कुछ अर्से में महाराष्ट्र सरकार ने दो कांग्रेसी विधायकों-हितेन्द्र ठाकुर और पप्पू कालाणी को टाडा के अंतर्गत गिरफ़्तार किया था। इन दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में आपराधिक तत्वों का सरगना बताया जा रहा है। महानगर में अनधिकृत इमारतों को ध्वस्त करने की सरकार की कार्रवाई से भी असामाजिक तत्व सीधे प्रभावित हुए थे और कोई आश्चर्य नहीं कि सरकार से बदला लेने के लिए उन्हें यह मौका उपयुक्त लगा हो। तीसरे, उजडी बस्तियों की ख़ाली ज़मीन से बिल्डर लॉबी का स्वार्थ भी जुडा हुआ है।

इस मौके का उपयोग राज्य सरकार को बदनाम करने के लिए किया गया। यह एक सचाई है कि इन दंगों के दौरान मुंबई में अराजकता की स्थिति थी। दंगों पर क़ाबू पाने के संदर्भ में राज्य सरकार पूरी तरह विफल रही थी और मुख्यमंत्री यह कहकर अपनी अक्षमता छिपा नहीं सकते कि वे एक षड्यंत्र के शिकार हुए हैं। यदि यह षड्यंत्र था तब भी किसी भी सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह षड्यंत्र का भाँडा फोडकर अपराधियों को सज़ा देगी, लेकिन जिस गति से दंगों को फैलने दिया गया वह इस बात का प्रतीक है कि सरकार के हाथ से शासन के सूत्र फिसलते जा रहे थे।

इस फिसलन की शुरुआत पिछले दंगों से हो गई थी, जिनमें २२७ लोग मारे गए थे- अधिसंख्य पुलिस की गोलियों से। तब दंगे थमे तो थे, पर मुंबई के अलग-अलग इलाकों में, खासकर एशिया की सबसे बडी झोपड बस्ती धारावी में, छुट-पुट घटनाएँ होती ही रहीं और अयोध्या कांड के ठीक एक महीने बाद ६ जनवरी को धारावी समेत मुंबई के कुछ अन्य मुस्लिम बहुल इलाकों में हिंसा फूट पडी। इसी दिन हिंसा के इस कुंभ का शुरू होना ही इसे एक नियोजित कार्यक्रम होने का संकेत देता है (राज्य के खुफ़िया तंत्र ने इस सरकार को इस बात से आगाह भी किया था)। डोंगरी में दो माथाडी कामगारों की हत्या ने बारूद में आग का काम किया। पता नहीं यह मजदूर-यूनियनों के भीतरी झगड़ों का परिणाम था या दंगे भड़काने

की है। इसी संदर्भ में शिवसेना के मुखपत्र 'सामना' में बाल ठाकरे की दंगा रोकने की अपील भी इस बात की स्वीकारोक्ति है कि शिवसैनिकों ने इन दंगों में हिस्सा लिया था। पर वे भी इसे प्रतिक्रिया बताते हैं, लेकिन साथ ही यह भी कहते हैं कि मुसलमानों की उनकी हैसियत बता दी गई है।

तो फिर बात शुरू कहाँ से हुई ? हिन्दुओं पर पहला हमला किसका षड्यंत्र था ? क्या इसके पीछे वे अपराधी-गिरोह थे, जो राज्य सरकार की सख्त कार्रवाई का शिकार हो रहे थे ?

और फिर आग लगने के बाद उसे हवा कौन दे रहा था ? सारे शहर में ये अफ़वाहें कौन फैला रहा था कि एके-४७ से लैस मुसलमान-गिरोह हमला करने आ रहे हैं ? यह अफवाह किसने फैलाई कि हमलावर पुलिस की वर्दी में आते हैं ? राजनीति और अपराध के रिश्तों की क्या भूमिका रही इस काम में ? और क्या दंगों को बढ़ाने में कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति भी योगदान कर रही थी ? ये और ऐसे बहुत से सवाल इन दंगों के संदर्भ में उत्तर माँग रहे हैं। उत्तर इन सवालों का भी माँगा जा रहा है कि दंगों के इस दूसरे दौर में पुलिस निष्क्रिय क्यों रही ? सेना शुरू में ही प्रभावकारी कार्रवाई क्यों नहीं कर पाई ?

पुलिस की भूमिका इन दंगों का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। दंगा-पीडित मुस्लिमों ने पुलिस पर निष्क्रिय रहने के आरोप बार-बार लगाएँ हैं। यह सवाल राज्य के मुख्यमंत्री से भी कई बार पूछा गया। वे निष्क्रियता के आरोप से तो इनकार करते हैं और यह भी सही नहीं मानते कि पुलिस को गोली न चलाने का कोई आदेश दिया गया था, पर साथ ही यह बात भी कहते हैं कि दिसम्बर के दंगों में हुई पुलिस की तीव्र आलोचना से पुलिसकर्मियों के मनोबल पर असर पड़ा होगा। पुलिस आयुक्त भी इसी तरह के बयान देते रहे हैं। पर इस बात का जवाब कोई नहीं दे रहा कि इन दंगों में पुलिस गोली चलाने से कतराती क्यों रही ? यदि दिसम्बर के दंगों में पुलिस का गोली चलाना सही था तो आलोचना से घबराकर उसने इस बार 'सही काम' क्यों नहीं किया ? और इस बात का जवाब भी पुलिस को देना होगा कि उस पर मुस्लिम विरोधी होने का आरोप क्यों लग रहा है ?

जहाँ तक सेना की भूमिका का सवाल है, यह एक तथ्य है कि शुरू में सेना को मनोवैज्ञानिक असर डालने के लिए ही बुलाया गया था। पर जब फ्लैगमार्च विफल सिद्ध हो गए तो सेना अगली कार्रवाई क्यों नहीं कर पाई ? मुख्यमंत्री और रक्षामंत्री दोनों ने इसके लिए प्रणालीगत कारणों की बात कही है। पर यह तर्क आसानी से गले नहीं उतरता। जो आदेश सेना को चार दिन बाद दिए गए वे पहले क्यों नहीं दिए जा सकते थे ?

इसके साथ ही कांग्रेस की भीतरी राजनीति का सवाल भी जुड़ा हुआ है ? यह एक तथ्य है कि दंगों को शांत करने में राज्य सरकार की सहायता के लिए मुंबई में डेरा डालकर बैठे शरद पवार एक समान्तर शक्ति केन्द्र के रूप में काम करते दिखाई पड रहे थे। इसका दुहरा असर हुआ—एक तो यह कि प्रशासन के संदर्भ श्री नाईक के नेतृत्व और राज्य सरकार की छवि लगातार बिगड़ती गई और दूसरे अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। राज्य पुलिस और सेना तीनों के अधिकार सत्ता के दो शक्ति केन्द्रों के बीच गेंद की तरह लुढ़क रहे थे या लुढ़काए जा रहे थे। किसी भी व्यवस्था के लिए इस तरह की अराजकता घातक ही हो सकती है। दंगों से निपटने में यदि मुख्यमंत्री नाईक असफल और अक्षम साबित हुए हैं तो रक्षामंत्री पवार की छवि भी उजली नहीं हुई है। वे इस आशय के आक्षेपों से घिरे हैं कि इन दंगों का वे राजनीतिक लाभ उठाना चाहते थे। शायद इसीलिए भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी ने माँग की है कि दंगों की जाँच के लिए नियुक्त किए जाने वाले आयोग के समक्ष रखे जाने वाले मुद्दों में एक मुद्दा यह भी होना चाहिए कि दंगों के शुरू होने और उन पर शीघ्र ही क़ाबू न पाए जाने में कांग्रेस के भीतरी कलह की क्या भूमिका थी। श्री आडवाणी की इस माँग को सिर्फ विपक्ष की माँग के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। मुंबई के सामाजिक भूगोल को बदलने के इस पड्यंत्र की जाँच के लिए यदि महाआरती अभियान के उद्देश्यों-प्रभावों का आकलन ज़रूरी है तो उतना ही ज़रूरी कांग्रेस की भीतरी राजनीति के दुष्परिणामों को रेखांकित किया जाना भी है। और इतना ही ज़रूरी राजनीति और अपराध के रिश्तों की जाँच-पड़ताल भी है। इन दंगों में साम्प्रदायिकता की भूमिका असंदिग्ध है, पर उतना ही महत्वपूर्ण यह पहलू भी है कि ज़मीन से जुड़े स्वार्थों वाले अपराधी तत्वों ने न केवल साम्प्रदायिकता की इस आग में हाथ सेके, बल्कि अपने स्वार्थ के लिए इस आग को भडकाया भी। झोपड़पट्टी दादाओं और बिल्डर लॉबी दोनों की भूमिका तो जाँच आयोग के दायरे में आनी ही चाहिए, इन तत्वों से राजनीति के रिश्ते भी उजागर होने चाहिए।

साम्प्रदायिकता, असामाजिक तत्वों की राजनीति, राजनीति की असामाजिकता, अपराधी तत्वों के पड्यंत्र, पुलिस की संदिग्ध भूमिका, सेना की अस्वाभाविक हिचकिचाहट—ये सब और ऐसे कई और कारण उत्तरदायी हैं मुंबई को पागल बनाने के लिए। राष्ट्रीय हितों का तकाज़ा है कि यह पागलपन ख़त्म हो।



उस दिन बहुत कुछ टूटा था

६ दिसम्बर १९९२ को अयोध्या में जो हुआ वह हमारे समय के इतिहास का दुखद अध्याय है। पर अप्रत्याशित नहीं था यह सब। पिछले दो साल से देश में जिस तरह का वातावरण बनाया जा रहा था, उसमें जो कुछ हुआ, वह यदि न होता तो आश्चर्य की बात होती। पर उस दिन अयोध्या में सिर्फ़ बाबरी मस्जिद ही नहीं टूटी थी, मस्जिद के साथ-साथ और भी बहुत कुछ टूटा था उस दिन। उस दिन जनतांत्रिक मूल्यों में हमारा विश्वास टूटा था, न्याय-प्रणाली में हमारी आस्था खंडित हुई थी। संसदीय व्यवस्था का आधार टूटा था उस दिन।

उस दिन सब ठगे गए थे। प्रधानमंत्री को उत्तरप्रदेश की सरकार ने धोखा दिया। लालकृष्ण आडवाणी को उनके कारसेवकों ने और देश को उन सबने जिनके हाथों में हमने बागडोर सौंपी थी।

बाबरी मस्जिद का होना हमारे इतिहास का सच है और बाबरी मस्जिद का न होना हमारे वर्तमान का। बाबरी मस्जिद का होना दो बातों का प्रतीक था- एक तो यह कि इस देश पर कभी मुग़लों का शासन था और उन्होंने इस तरह की मस्जिदों के माध्यम से अपनी प्रभुता जताने की कोशिश भी की होगी और आज बाबरी मस्जिद का न होना भी दो बातों का प्रतीक है : एक यह कि हमारा वर्तमान इतिहास को झुठलाने की कोशिश कर रहा है और दूसरी यह कि हिन्दुत्व के नाम पर इस देश में असहिष्णुता की एक ऐसी संस्कृति के बीज बोए जा सकते हैं, जो हमारी मूल सांस्कृतिक निष्ठाओं का विलोम है। बहरहाल, आज प्रश्न यह नहीं है कि बाबरी मस्जिद का टूटना ग़लत था या सही और न ही प्रश्न यह है कि राष्ट्रों की समस्याएँ इस तरह से सुलझती हैं या नहीं। प्रश्न यह है कि अब क्या होगा ? क्या उसी जगह फिर मस्जिद बनेगी जैसा कि प्रधानमंत्री ने घोषणा की है ? अथवा क्या वहाँ राम का एक मंदिर बनेगा ?

प्रश्न बहुत सीधे-सादे हैं, पर उत्तर उतने ही जटिल हैं इनके। बड़ी घुमावदार गलियों में से होकर गुज़रना होगा इन उत्तरों को पाने के लिए। ये गलियाँ सिर्फ़ आगे ही नहीं जातीं, पीछे भी लौटती हैं कई-कई बार।

अयोध्या में राम का जन्म होना या राम का होना ही कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं मिथ है और दशरथ के पुत्र राम का होना यदि ऐतिहासिक सत्य है, तब भी वह राम तो एक मिथ ही है, जो युगों से मनुष्य जाति की प्रेरणा और आदर्श बने हुए हैं--कण-कण में रमे हुए हैं जो। मनुष्य जाति का इतिहास ऐसे ही मिथकों से लिखा गया है। ऐसे ही विश्वास, आस्थाएँ और आदर्श मनुष्यता की परिभाषा बनते हैं और यदि करोड़ों हिन्दू यह विश्वास करते हैं कि उनका आराध्य राम अयोध्या में उसी जगह पैदा हुआ था, जहाँ बाबरी मस्जिद थी तो इस विश्वास को झुठलाने का कोई मतलब नहीं रह जाता। फिर, ऐसी आस्थाओं और विश्वासों के लिए न तर्क ज़रूरी होते हैं न प्रमाण। गंगाजल यदि हिन्दुओं के लिए पवित्र है और मुसलमानों के लिए आबे ज़मज़म, तो इस पवित्रता को किसी तर्कशास्त्र की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। इसलिए, जब कोई शाहबुद्दीन तर्क देता है कि प्रमाणित किया जाए कि बाबरी मस्जिद की जगह राम का मंदिर था तो हम यह मान लेंगे कि राम वहीं पैदा हुए थे, तो अपने आपमें कोई माने नहीं रखती यह बात। वहाँ मंदिर था या नहीं, इससे उस आस्था या विश्वास पर कोई असर नहीं पड़ता जो राम के साथ जुड़ी हुई है। उसी आस्था और विश्वास का तकाज़ा था कि इस देश का मुसलमान हिन्दू-भावनाओं को ध्यान में रखते हुए कहता, यदि आप मानते हैं कि भगवान राम यहीं पैदा हुए थे तो बना लीजिए मंदिर यहाँ। उदारता और सहिष्णुता का एक चरम उदाहरण होता यह। आपसी समझ की तरफ़ बढ़ा यह एक क़दम इस देश के हिन्दू और मुसलमान के बीच अविश्वास और संदेह की सदियों चौड़ी खाई को पाट कर रख देता।

पर दुर्भाग्य से ऐसा हुआ नहीं। इस देश का मुस्लिम-नेतृत्व अपने निहित स्वार्थों के लिए तो चिंतित था ही, उस अल्पसंख्यक-मानसिकता से भी ग्रस्त था, जो अल्पसंख्यकों के मन में एक अजीब-सा डर बनाए रखती है। इसीलिए, *तथाकथित समझौता-वार्ताओं के दौरान यह भी कहा गया कि आज हिन्दू एक* मस्जिद माँग रहे हैं, कल तीन माँगेंगे, परसों तीन हज़ार...! अल्पसंख्यकों के संदर्भ में ऐसा डर बेबुनियाद नहीं हुआ करता, पर कतई ज़रूरी नहीं है कि ऐसा डर सच साबित हो ही। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखा जाना ज़रूरी है कि इतिहास ऐसे संशयों-आशंकाओं से नहीं बनता। इतिहास बनाने के लिए ऐसी बातों से बहुत ऊपर उठकर सोचना होता है। देश के मुस्लिम-नेतृत्व ने इस संदर्भ

में अपनी अदूरदर्शिता का ही परिचय दिया है।

पर ऐसी ही अदूरदर्शिता का शिकार वह हिन्दू-नेतृत्व भी हुआ है, जिसकी दृष्टि का विस्तार रामलला के मंदिर तक ही सीमित है। आसेतु-हिमालय भारत के ध्वज-वाहक ये नेता इस बात को भूल जाते हैं कि कोई हिमालय या हिन्द महासागर इस देश की परिभाषा नहीं बनाता और जिस भूगोल की परिकल्पना इनसे होती है, उसको अर्थ तभी मिलता है जब हिन्दू, मुस्लिम, सिख और ईसाई सब समान अधिकारों और समान कर्तव्यों वाले नागरिक बनते और माने जाते हैं। जिस तरह और जिस भावना से बाबरी मस्जिद गिराई गई है, उसे किसी भी दृष्टि से उचित ठहराने की कोशिश को इस देश के बहुधर्मी ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश के रूप में ही समझा जा सकता है। बाबरी मस्जिद का टूटना उत्तरप्रदेश की भाजपा या केन्द्र की कांग्रेस सरकारों की अक्षमता और विफलता का प्रमाण तो है ही, इस बात का संकेत भी है कि देश का हिन्दू मन सर्वधर्म समभाव में विश्वास नहीं करता या फिर उनका बंदी है, जो अपने निहित स्वार्थों के लिए उसकी धार्मिक भावनाओं का ग़लत उपयोग करने में लगे हुए हैं।

अयोध्या-काण्ड के बाद देश के अलग-अलग हिस्सों में जितना, जो कुछ हुआ, जिस तरह एक हजार से अधिक व्यक्ति साम्प्रदायिक दंगों में मारे गए, वह राष्ट्रीय शर्म का विषय है। अयोध्या में तो सिर्फ़ एक मस्जिद ढही थी, इन दंगों में एक हजार से अधिक भारत शहीद हुए हैं। दंगों में मरने वालों की लाशें सारी *की सारी भारत की लाशें थीं। जब राम दयाल मरा तब भी गोली भारत सीने पर* लगी थी और जब शौकत अली मरा तब भी सीना भारत का ही छलनी हुआ था। इस देश की परम्पराओं, मान्यताओं और जीवन-शैली पर जब-जब वार हुआ है, तब-तब भारत रोया है। दिल्ली में राव और लखनऊ में कल्याणसिंह की सरकारों ने बाबरी मस्जिद की सुरक्षा, संविधान की मर्यादाओं के सम्मान और न्यायालय के निर्देशों के पालन का वादा किया था। इनमें से कोई भी वादा पूरा नहीं हुआ। होता है ऐसा कि कभी कोई कोशिश सफलता की देहरी तक नहीं पहुँच पाए। पर यह तो दिखना चाहिए कि कोशिश हुई। यहाँ तक कि कोशिश करने का नाटक तक ढंग से नहीं किया। ऐसा लग रहा है जैसे उत्तरप्रदेश की तत्कालीन सरकार को पता था कि ढाँचा गिरेगा और यह भी पता था कि उसे ढाँचा गिरने देना है। ढाँचा गिरने के बाद यदि मुख्यमंत्री ने इस्तीफा दिया भी तो उसका सिर्फ यही अर्थ निकल रहा है कि 'मेरा काम पूरा हो गया, अब मैं जाता हूँ।'

लेकिन अभी काम किसी का पूरा नहीं हुआ है—मंदिर बनाने वालों का भी नहीं, मस्जिद बनाने वालों का भी नहीं। अयोध्या में इन दोनों का बनना

वाली बात अब पुरानी पड़ चुकी। ढाँचा तो अब वहाँ है ही नहीं। और अब यदि जागरूक मुसलमानों का कोई वर्ग ऐसा प्रस्ताव रखता भी है तो उससे यह कटुता समाप्त नहीं होगी, जो छल-बल से ढाँचा गिराकर पैदा कर दी गई है। और यदि मंदिर वहीं नहीं बनता है तो वह हिन्दू-मन संतुष्ट नहीं होगा, जिसकी धार्मिक भावनाओं को इस हद तक उभारा गया कि अपने ही नेतृत्व के संयम बरतने के लिए किए गए कथित प्रयासों को उसने विफल कर दिया। इसलिए कोई बीच का मार्ग खोजना ही होगा। पहले भी इस तरह के प्रस्ताव रखे जा चुके हैं, जिनमें मंदिर-मस्जिद के सह अस्तित्व की बात थी। नकारे भी जा चुके हैं, ऐसे प्रस्ताव। पर अब इन पर फिर से विचार करना ज़रूरी है। 'कारसेवकों' ने जो ज़मीन समतल की है, उस पर एक ऐसा राष्ट्रीय स्मारक खड़ा किया जा सकता है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों की राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हो। साथ में मंदिर-मस्जिद भी रहें। राम और रहीम दोनों को भारतीय समाज की रक्षा का दायित्व सौंपकर ही हम आने वाले कल की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं, अन्यथा आपस की लड़ाई हमें राम-रहीम दोनों की दृष्टि में गिरा देगी।

देश आपातकाल से गुज़र रहा है। इस समय राजनीतिक हितों की रोटियाँ सेंकना देश के साथ ग़द्दारी होगी। सौ करोड़ भारतीयों का सामूहिक हित ही कल्याण के किसी भी मार्ग की दिशा हो सकती है।

६ दिसम्बर की शाम संघ परिवार के नेताओं की ओर से जारी किए गए वक्तव्य में कहा गया था, 'समय आ गया है जब राज्य के सभी संस्थानों को अयोध्या के बारे में राष्ट्रवादी भावनाओं की गहराई को समझना और स्वीकार कर लेना चाहिए।'

क्या अर्थ है इन कथाकथित राष्ट्रवादी भावनाओं का? उत्तर रहस्य के किसी पर्दे के पीछे नहीं छिपा हुआ। अपने आपको राष्ट्रवादी भावनाओं का संरक्षक समझने-जताने वाली संघ परिवार की ताकतें हिन्दुत्व के नाम पर जिस राष्ट्र की कल्पना कर रही हैं, वह किसी से छिपा नहीं है। धर्मनिरपेक्षता की इनकी क्या परिभाषा है, पता नहीं, पर धर्मनिरपेक्षता की बात करने वालों को ये 'छद्म' कहते हैं। इतिहास के पन्नों में सुरक्षित है दीनदयाल उपाध्याय का वह वक्तव्य जिसमें उन्होंने कहा था, 'यदि हम राष्ट्रीयता के पुराने आधार को समझते हैं, तो यह सहज समझ आ जाएगा कि हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता है।' भाजपा के १९८२ के आगरा अधिवेशन में इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया था, 'भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप पर ज़ोर देकर सामान्यतः इसकी मूल हिन्दू भावना और चरित्र को नकारने की कोशिश की जाती है।'

वाली बात अब पुरानी पड़ चुकी। ढाँचा तो अब वहाँ है ही नहीं। और अब यदि जागरूक मुसलमानों का कोई वर्ग ऐसा प्रस्ताव रखता भी है तो उससे यह कटुता समाप्त नहीं होगी, जो छल-बल से ढाँचा गिराकर पैदा कर दी गई है। और यदि मंदिर वहीं नहीं बनता है तो वह हिन्दू-मन संतुष्ट नहीं होगा, जिसकी धार्मिक भावनाओं को इस हद तक उभारा गया कि अपने ही नेतृत्व के संयम बरतने के लिए किए गए कथित प्रयासों को उसने विफल कर दिया। इसलिए कोई बीच का मार्ग खोजना ही होगा। पहले भी इस तरह के प्रस्ताव रखे जा चुके हैं, जिनमें मंदिर-मस्जिद के सह अस्तित्व की बात थी। नकारे भी जा चुके हैं, ऐसे प्रस्ताव। पर अब इन पर फिर से विचार करना ज़रूरी है। 'कारसेवकों' ने जो ज़मीन समतल की है, उस पर एक ऐसा राष्ट्रीय स्मारक खड़ा किया जा सकता है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों की राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हो। साथ में मंदिर-मस्जिद भी रहें। राम और रहीम दोनों को भारतीय समाज की रक्षा का दायित्व सौंपकर ही हम आने वाले कल की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो सकते हैं, अन्यथा आपस की लड़ाई हमें राम-रहीम दोनों की दृष्टि में गिरा देगी।

देश आपातकाल से गुज़र रहा है। इस समय राजनीतिक हितों की रोटियाँ सेंकना देश के साथ ग़द्दारी होगी। सौ करोड़ भारतीयों का सामूहिक हित ही कल्याण के किसी भी मार्ग की दिशा हो सकती है।

६ दिसम्बर की शाम संघ परिवार के नेताओं की ओर से जारी किए गए वक्तव्य में कहा गया था, 'समय आ गया है जब राज्य के सभी संस्थानों को अयोध्या के बारे में राष्ट्रवादी भावनाओं की गहराई को समझना और स्वीकार कर लेना चाहिए।'

क्या अर्थ है इन कथाकथित राष्ट्रवादी भावनाओं का? उत्तर रहस्य के किसी पर्दे के पीछे नहीं छिपा हुआ। अपने आपको राष्ट्रवादी भावनाओं का संरक्षक समझने-जताने वाली संघ परिवार की ताक़तें हिन्दुत्व के नाम पर जिस राष्ट्र की कल्पना कर रही हैं, वह किसी से छिपा नहीं है। धर्मनिरपेक्षता की इनकी क्या परिभाषा है, पता नहीं, पर धर्मनिरपेक्षता की बात करने वालों को ये 'छद्म' कहते हैं। इतिहास के पन्नों में सुरक्षित है दीनदयाल उपाध्याय का वह वक्तव्य जिसमें उन्होने कहा था, 'यदि हम राष्ट्रीयता के पुराने आधार को समझते हैं, तो यह सहज समझ आ जाएगा कि हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता है।' भाजपा के १९८२ के आगरा अधिवेशन में इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा गया था, 'भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप पर ज़ोर देकर सामान्यतः इसकी मूल हिन्दू भावना और चरित्र को नकारने की कोशिश की जाती है।'

भारतीय संस्कृति, 'मूल हिन्दू भावना और चरित्र' की भाजपा की जो भी परिभाषा हो, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि समन्वय और सहभागिता हमारी संस्कृति को नए आयाम देते हैं। जिस धर्मनिरपेक्ष भारत की कल्पना हमारे संविधान निर्माताओं ने की है, उसमें समन्वय की इसी भावना को उकेरा गया था। पर हिन्दुत्व को भारतीयता कहने वाले समन्वय के इस भाव को ही नकारना चाहते हैं, जबकि भारतीयता हिन्दुत्व समेत उन सभी संस्कारों की परिभाषा है, जो इस देश, इस समाज को अर्थ देते हैं।

उस दिन अयोध्या में इन संस्कारों की धज्जियाँ उडी थीं। आवश्यकता इन संस्कारों को फिर से जिलाने की है। राम और हिन्दुत्व का नाम लेने से वोट मिल सकते हैं, पर भारतीयता के आदर्शों की स्थापना के लिए राम और हिन्दुत्व के अर्थों को समझना-स्वीकारना होगा। राम मर्यादा का एक नाम है और हिन्दुत्व उस जीवन-व्यवस्था की परिभाषा है, जिसमें सर्वे भवंतु सुखिनः के मंत्र के आधार पर जीवन जीने की प्रेरणा दी जाती है।

अयोध्या काण्ड ने भारतीय समाज के मन और मस्तिष्क पर जो घाव किए हैं, समय के साथ शायद वे भर भी जाएँ, पर उनके निशान इतिहास के उस छोर तक बने रहेंगे। भारतीय समाज की सामूहिक चेतना से इन निशानों की पीड़ा मिटाना सहज नहीं है। पर इसके बावजूद ज़रूरी है कि भारतीय समाज इस त्रासदी से आवश्यक सबक ले। ६ दिसम्बर और उसके बाद के अनुभवों के अर्थ को आत्मसात करके जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष अस्मिता के आधार पर एक विवेकशील समाज की स्थापना में जुट जाएँ।

पर हमारा कुछ भी सीखना इस बात पर निर्भर करता है कि हम इस त्रासदी को क्या अर्थ देते हैं। हम इसे पथभ्रष्टता मानते हैं या भावनाओं के उफान का परिणाम ? हम इसे एक संगठित गुण्डागर्दी के अर्थ में देखते हैं या साम्प्रदायिक असहनीयता और घृणा पर आधारित आंदोलन का अपरिहार्य परिणाम ? हम इसे भाजपा के सुंदरसिंह भण्डारी की तरह 'एक सडक दुर्घटना' मानते हैं या पिछले एक दशक की साम्प्रदायिक राजनीति की त्रासद तार्किक परिणति ?

इसके साथ ही हमें धर्म और साम्प्रदायिकता के अंतर को भी समझना होगा। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता का जो ताण्डव हमने ६ दिसम्बर और उसके बाद देखा है, वह इतना समझाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि धर्म जीवन को दिशा और गति देता है और साम्प्रदायिकता जीवन का ज़हर है।

६ दिसम्बर हमारे लिए एक चेतावनी भी है- और अवसर भी। इसने हमें

बता दिया है कि साम्प्रदायिकता और धार्मिक उन्माद समाज के जनतांत्रिक-धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को कैसे ध्वस्त कर सकता है। इसने हमें यह भी बता दिया है कि चेतावनी किसी अयोध्या काण्ड की पुनरावृत्ति की नहीं, उन ताकतों के प्रति है जिन्होंने इस काण्ड को संभव बनाया। जहाँ तक अवसर का सवाल है, यह अवसर उन सबके लिए है जो विवेक और मानव मूल्यों के आधार पर एक नए समाज की संरचना के प्रति स्वयं को समर्पित पाते हैं। इससे पहले कि अयोध्या काण्ड को राजनीतिक लाभ में बदलने की कोशिश हो, भारतीय जनतंत्र और धर्मनिरपेक्ष समाज को बचाने की कोशिश की जानी चाहिए। यह कोशिश व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर ज़रूरी है। दरके हुए नींव के पत्थरों को जोड़ने और अपने-अपने आकाश में उग आए काले सूरज को हटाने की ईमानदार कोशिश ही हमारे जनतंत्र की रक्षा का एकमात्र उपाय है।



संघर्ष नहीं, सहभागिता

लगभग दो साल पहले शुरू हुआ था यह चक्र। अब पूरा हो गया है। अक्टूबर १९९० में अयोध्या में 'कारसेवा' के माध्यम से राष्ट्रीयता की एक नई पहचान के नाम पर धार्मिक-उन्माद की एक आँधी उठाने की कोशिश हुई थी। मंदिर और मस्जिद के झगड़े ने जन-मानस को दो टुकड़ों में बाँट दिया था तब। कारसेवा से पहले एक रथ-यात्रा निकली थी, जिसकी धूल ने विवेक की दृष्टि धुँधला दी थी। राम शिलाओं की पूजा ने हिन्दुत्व को एक नई परिभाषा दी थी तब। फिर हज़ारों लोग अयोध्या में एकत्र हुए। बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने की सांकेतिक प्रक्रिया के साथ राम मंदिर की पहली ईंट रखी गई।

बाबरी मस्जिद की जगह पहले कभी राम का मंदिर था या नहीं, इस पर पुरातत्वशास्त्रियों का अध्ययन अभी जारी है। उस पर और उससे जुड़ी ज़मीन पर निर्माण कार्य होना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न इन पंक्तियों के लिखे जाने तक न्यायालय के विचाराधीन है। अयोध्या में भगवान राम का भव्य मंदिर बनना चाहिए, इस बारे में प्रधानमंत्री नरसिंहराव समेत किसी को एतराज़ नहीं है। विवाद है तो सिर्फ इस बात पर कि बाबरी मस्जिद रहे या न रहे। एक तरफ़ वे हैं जो कहते हैं, मंदिर भी बने, मस्जिद भी रहे और दूसरी ओर वे हैं, जो मस्जिद के अस्तित्व को ही नकार रहे हैं।

बेहतर होता यह विवाद आपसी बातचीत से सुलझता—वैसे इसके अलावा और कोई हल है भी नहीं इस समस्या का। पर राजनीति ने और धर्म के नाम पर हिन्दुओं-मुसलमानों के वोट बैंक बनाने वालों ने ऐसा नहीं होने दिया। राजनीतिक दल कुछ समझदारी का परिचय देते, तब भी शायद कुछ हल निकलने की उम्मीद बनती। पर उनकी समझदारी पर उनके स्वार्थों का पर्दा पड़ गया है। सरकार भी दृढ़ इरादों की सारी घोषणाओं के बावजूद कोई निर्णायक क़दम उठाने में भीतर ही भीतर डर रही है। इसीलिए मामला न्यायालय की गोद में डाल दिया गया है। कुछ तकनीकी आधारों पर न्यायालय निर्णय दे भी देगा—जैसे उसने मंडल आयोग के मामले में दिया—पर निर्णय तो न्यायालय ने

समाधान दे सकता है। राजनेताओं और धर्मगुरुओं को इस विवाद से परे हटाना यदि संभव हो सके तो शायद राम और रहीम मिल बैठकर एक-दूसरे के दर्द को पहचानने की कोशिश कर सकते हैं। तब शायद वे दोनों मिलकर यह भी सोच सकते हैं कि प्रार्थना और नमाज़ साथ-साथ हो पाने की कोई जुगत लड़ाई जाए। तब शायद वे यह भी सोच सकते हैं कि मस्जिद दो-चार क़दम दूर भी सरका दी जाए तब भी अज़ान की आवाज़ तो सुनाई देगी ही या फिर मंदिर ही दो-चार क़दम दूर बन जाए तो राम की जन्मभूमि से उसका रिश्ता नहीं टूटेगा।

जी हाँ, ऐसा कुछ भी हो सकता है। और ऐसा ही कुछ होना भी चाहिए। हम साथ-साथ जीना नहीं सीखेंगे तो एकमात्र विकल्प एक साथ मरना ही बचता है।

साथ-साथ जीने की कुछ शर्तें हुआ करती हैं। इसमें एक महत्वपूर्ण शर्त एक-दूसरे की भावनाओं को समझने और उनकी क़द्र करने की है। मंदिर और मस्जिद के इस सवाल पर किसी को कुछ खोना नहीं है, सिर्फ पाना ही पाना है। ज़रूरत है तो सिर्फ इस समझ की कि कुछ निहित स्वार्थ इस राष्ट्र के ताने-बाने को नष्ट करने पर उतारू हैं।

एक आम हिन्दू को अपने आपसे यह सवाल पूछना होगा कि राम जन्मभूमि के नाम पर वोट माँगने वालों को पहले कभी इसकी सुध क्यों नहीं आई थी। और एक आम मुसलमान को अपने आपसे यह सवाल पूछना होगा कि बिहार या केरल में रहने वाले उसके धार्मिक नेताओं को आज अचानक बाबरी मस्जिद में ही नमाज पढ़ना ज़रूरी क्यों लगने लगा है ? इस देश के आम नागरिक को अपने नेताओं से भी एक सवाल पूछना है- धर्म की बैसाखी के सहारे वे अपनी राजनीति क्यों करना चाहते हैं ?

इस देश की अस्मिता को हिन्दू-मुसलमान के खानों में बाँटकर देखना उस विभाजित और खंडित दृष्टिकोण का परिचायक है, जिसे राष्ट्रीय अस्मिता की चिंता तो है पर उस पर पड़ रही खरोंचों के परिणामों की नहीं। कारसेवा की आवश्यकता तो इन खरोंचों को दूर करने के लिए है। पर इसके लिए न कोई आह्वान करता है और न ही हमारे भीतर से ही कोई आवाज़ उठती है। कोई आह्वान नहीं करता, यह बात तो समझ में आती है--क्योंकि ऐसे आह्वान से किसी का स्वार्थ नहीं सध रहा- पर हमारे भीतर से आवाज़ क्यों नहीं उठती ? हमारा स्वार्थ--और इस देश का हित तो ऐसी किसी आवाज़ के उठने में ही है जो जोड़ने की बात करे।

मुसलमान मस्जिद का दावा छोड़ दें या हिन्दू-गर्भगृह की ज़िद न करें, ऐसी किसी भी बात से आज सौदेबाजी की गंध आने लगी है। ऐसी कोई सौदेबाज़ी हमारी समस्या का समाधान नहीं है। ज़रूरत सौदेबाजी की नहीं, समझ की है। पर कौन जगाए यह समझ? पंडितों और मौलवियों ने समझ जगाने का यह अधिकार अपनी करनी से खो दिया है। राजनेताओं का दायित्व था यह, पर उनके राजनीतिक हितों ने उन्हें यह याद ही नहीं रहने दिया कि ऐसे किसी दायित्व की पूर्ति भी उन्हें करनी होती है। देश की धर्मनिरपेक्ष ताक़तें यह काम कर सकती हैं। लेकिन एक ओर तो 'छद्म निरपेक्षता' का नारा लगाकर उन्हें बदनाम कर दिया गया और दूसरी ओर वे स्वयं भी अपनी छवि को निष्पक्ष नहीं रख पाईं। हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक साथ सम्बोधित करने के बजाय ये ताकतें कभी हिन्दुओं को सम्बोधित करने लगीं और कभी मुसलमानों को। अपनी ईमानदारी को प्रमाणित करने की इन ताकतों की लालसा ने इन्हें अनायास ही किसी का पक्षधर बना दिया। यह ग़लत हुआ।

पर इस ग़लत को ठीक करना ही होगा। क्योंकि यही ताकतें इस देश के आम हिन्दू और आम मुसलमान को सम्बोधित कर सकती हैं। जब मौलवियों, धर्मगुरुओं और राजनेताओं की आवाज के बजाय भारतीयता के आदर्श में विश्वास करने वालों की आवाज़ सुनी जायेगी, तभी वह सामासिक संस्कृति पनपेगी जो धर्मों के सह अस्तित्व में विश्वास करती है। यह दुर्भाग्य की बात है कि मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे आज हमारी भिन्नता का प्रतीक बन गए हैं, जबकि होना यह चाहिए था कि ये हमारे मनुष्य होने का प्रमाण बनते।

तर्क की तराज़ू पर मंदिर-मस्जिद के मसले को हल करना मुश्किल है और खंडित आस्थाओं की दुहाई देकर भी इस जाल से नहीं निकला जा सकता। सवाल मात्र एक मस्जिद के टूटने या एक मंदिर के बनने का नहीं है। सवाल भारतमाता के मंदिर को बनाने का है। यह मंदिर आपसी विश्वास की ईंटों से बनेगा। यह विश्वास पैदा करना हममें से हर एक का दायित्व है। उसका भी, जिसने लोकसभा में 'वंदे मातरम्' गाने का विरोध किया और उसका भी जो कभी तीन और कभी तीन हज़ार मस्जिदों को तोड़ने की बात करता है।

'वंदे मातरम्' का विरोध करने वाला और मस्जिद तोड़ने की बात करने वाला नेता है– इस देश का आम नागरिक नहीं। इस देश का आम नागरिक है, राजाराम और शमशाद अली। ये दोनों अयोध्या में रहते हैं। रिक्शा चलाते हैं दोनों। २३ नवम्बर को इन दोनों ने कहा था, आजकल ज़्यादा वक़्त तक रिक्शा

चलाते हैं, ताकि कुछ पैसा इकट्ठा कर सकें- 'पता नहीं ६ दिसम्बर के बाद हालात कैसे हों। पर एक बात का पता इन दोनों को है। दोनों यह जानते हैं कि मंदिर, मस्जिद का साथ रहना ही उनके अस्तित्व की गारंटी है। इसलिए दोनों कहते हैं, मंदिर तो बनना चाहिए, पर मस्जिद नहीं टूटनी चाहिए।

यही बात प्रधानमंत्री कह रहे हैं।

रिक्शावालों से लेकर प्रधानमंत्री तक की इस आवाज़ को वे सब क्यों नहीं सुन पा रहे जो हमारे नेता, हमारे प्रवक्ता कहलाते हैं ? आख़िर राजाराम और शमशाद अली का प्रवक्ता कौन बनेगा ?

सह अस्तित्व हमारे जीने की शर्त है। इस शर्त को पूरा करने के लिए हमें मंदिर भी चाहिए और मस्जिद भी। धर्मगुरुओं और उलेमाओं को यदि रास्ता बताना है तो इस सम्भावना के साकार होने का रास्ता बताएँ, राजनेताओं को यदि नेतृत्व करना है तो आरती और अज़ान की सम्मिलित ध्वनि की दिशा में नेतृत्व करें। संघर्ष नहीं, सहभागिता हमारी समस्या का समाधान है।



विवेक के पक्ष में

नाथूराम गोडसे ने महात्मा गाँधी की हत्या करके जो अपराध किया था, उसकी सज़ा उसे मिल गई। गोडसे को फाँसी का आदेश देकर न्यायालय ने हत्या जैसे जघन्य अपराध के लिए क़ानून में बताई गई सर्वाधिक कडी सज़ा देकर इस अपराध की नृशंसता और भयानकता को ही उजागर किया था। लेकिन आज, महात्मा गाँधी की हत्या के ४५ साल बाद गाँधी-हत्या को 'वध' कहकर नाथूराम गोडसे के कुकृत्य को महिमामंडित करने के प्रयास आखिर क्या उजागर कर रहे हैं ? यह प्रश्न इसलिए और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि अपराध को महिमामंडित करने वाले न केवल गाँधी के हत्यारे को राष्ट्र का रक्षक निरूपित कर रहे हैं, बल्कि एक नया इतिहास लिखने के नाम पर इतिहास की सचाइयों को झुठलाने का प्रयास भी कर रहे हैं। यह पहली बार नहीं है, जब 'पंडित नाथूराम गोडसे' को फाँसी लगने वाले दिन को 'बलिदान-दिवस' के रूप में मनाया गया है। पिछले कुछ सालों से पुणे में गोडसे के अनुयायी इस दिन गोडसे के 'इच्छा-पत्र' का श्रद्धापूर्वक वाचन करके स्वतंत्र भारत के इतिहास के एक काले अध्याय का चेहरा बदलने की कोशिश कर रहे हैं। उनका दावा है कि गोडसे के इच्छा-पत्र का वार्षिक पाठ पिछले कई वर्ष से लखनऊ, मेरठ, कानपुर, इंदौर, ग्वालियर आदि में हो रहा है, हाँ, मुंबई में पहली बार इस साल हुआ है।

नाथूराम गोडसे ने मरने से पहले क्या इच्छा व्यक्त की थी और गोडसे के अनुयायी उस इच्छा की पूर्ति के लिए क्या कर रहे हैं, यह बात विवाद का विषय नहीं है। विवाद (और चिंता) का विषय गोडसे की उस इच्छा-पूर्ति के नाम पर समाज में विष फैलाने की वह कोशिश है, जो गोडसे के अनुयायी कर रहे हैं। साम्प्रदायिकता का विष फैलाने वाली कोई भी कोशिश समाज या राष्ट्र के लिए चिंता का विषय होनी चाहिए--और जब मुंबई की गोडसे वाली सभा में यह कहा

जाता है कि 'निरपराध हिन्दुओं को बचाने के लिए ज़रूरी है कि निरपराध मुसलमानों की हत्या की जाए,' तो यह चिंता और भी बढ़ जानी चाहिए। एक हत्यारे को प्रेरणा-स्रोत मानने की आज़ादी तो किसी को भी हो सकती है, पर इस आज़ादी के नाम पर अपने विकृत सोच को समाज में फैलाने की कोशिश किसी भी सभ्य समाज की रीति-नीति का हिस्सा नहीं होनी चाहिए—नहीं हो सकती। हत्या करना तो गुनाह है ही, किसी भी हत्या को महिमामंडित करना भी कम बढ़ा गुनाह नहीं है।

महात्मा गाँधी के हत्यारे को महिमामंडित करने की कोशिश सिर्फ़ इसलिए गुनाह नहीं है कि इससे समाज के स्वीकृति नियमों-मूल्यों का उल्लंघन होता है, यह इसलिए भी गुनाह है कि इस तरह की कोई भी कोशिश विकृत मूल्यों को बढावा देती है। भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने अपनी पार्टी को इस समूचे प्रकरण से पृथक बताकर एक तरह से इस घिनौनी कोशिश की निंदा ही की है। यह कहकर कि महात्मा गाँधी के हत्यारे के उद्धारीकरण के किसी प्रयास को उनकी पार्टी के समर्थन का सवाल ही नहीं उठता और यह स्पष्ट करके कि नाथूराम गोडसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य नहीं था, श्री आडवाणी ने न केवल स्वयं को हिन्दू महासभा से पृथक किया है, बल्कि उस दर्शन को भी नकारा है जो किसी हत्या के माध्यम से किसी लक्ष्य की प्राप्ति की वकालत करता है। यह एक शुभ लक्षण है। लेकिन उतना ही अशुभ वह लक्षण है जो गोपाल गोडसे की इस बात से उजागर होता है कि 'आज भले ही इस कार्यक्रम में गिने-चुने २०० कार्यकर्ता भाग लें, पर मेरा विश्वास है कि यह संख्या बढ़ेगी।'

चिंता की बात यह आशा है। यह आशा मनुजता के स्वीकृति मूल्यों को ही नहीं नकारती, बल्कि एक ऐसे नकारात्मक सोच को जन्म देती-प्रसारित करती है, जो समूचे मनुष्य-समाज का विष बन सकता है। यह चिंता इसलिए और गहरी हो जाती है कि इस बीमार सोच के प्रसारित होने के लक्षण दिखने लगे हैं। जर्मनी में फिर से हिटलर के प्रशंसक जुटने लगे हैं, स्कॉटलैंड में हाल ही में हिटलर के चहेते और यहूदियों के नर-संहार में प्रमुख भूमिका निभाने वाले रुडोल्फ हैस का संगमरमर का स्मारक बनाया गया है। इस स्मारक पर लिखा है, 'यह वह जगह है, जहाँ रुडोल्फ हैस १० मई १९४१ को ब्रिटेन और जर्मनी में युद्ध समाप्त करने का प्रस्ताव लेकर उतरा था।' सभ्य समाज ने इस स्मारक को 'शैतानीभरा और भयानक' बताते हुए इसे हटाने की माँग की है।

इस बात की पूरी संभावना है कि यह स्मारक हटा दिया जाएगा, वैसे ही जैसे जर्मनी में उस स्पाण्डु जेल को हटा दिया गया है जिसमें नरमेध के अपराधी हैस को रखा गया था और जहाँ पिछले कुछ अर्से से हिटलर के नए अनुयायी 'श्रद्धा अर्पित करने के लिए' जुटने लगे थे।

यह जेल जर्मनी के नव-नाजीवादियों की प्रेरणा का प्रतीक बनने लगी थी, इसलिए उसे नष्ट कर दिया गया। लेकिन प्रतीकों को हटाकर प्रवृत्ति को समाप्त करना आसान नहीं होता। शायद सम्भव भी नहीं होता। इसके लिए ज़रूरी होता है कि उस प्रवृत्ति पर सीधा हमला किया जाए। विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ना होता है, टहनियाँ या तना काटने से बात नहीं बनती। जिन्हें इस देश के भविष्य की चिंता है, उन्हें यह सोचना होगा कि हिंसा और घृणा की विषबेल उगाने के प्रयासों को विफल कैसे बनाया जा सकता है। यह अपने आप में एक खतरनाक स्थिति है कि आज हमारे समाज में इस सोच को प्रश्रय मिल रहा है कि हिंसा या द्वेष या घृणा की भावनाओं को उभाड़ना हमेशा गलत नहीं होता है। जो ग़लत है, वह हमेशा ग़लत होता है, परिस्थितियों के नाम पर उसे न तो सही ठहराया जा सकता है और न ही ऐसा करने की किसी कोशिश को स्वीकृति दी जा सकती है। बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने पर जब कोई बाल ठाकरे यह कहता है कि अगर यह काम मेरे आदमियों ने किया है तो मुझे उन पर गर्व है, तो वह न केवल अपने भीतर के कलुष को उजागर करता है, बल्कि समाज में निर्मित हो रही उन स्थितियों को भी सामने लाता है, जिनमें घृणा करने और घृणा फैलाने की छूट मिल जाती है।

हाल के चुनाव प्रचार के दौरान इंदौर में भाजपा के एक प्रत्याशी ने प्रेस क्लब में पत्रकारों से औपचारिक बातचीत करते हुए घोषणा की थी, 'हाँ, अक्टूबर १९८९ में मैंने ही शहर में मुसलमानों के खिलाफ़ दंगों का नेतृत्व किया था। मुझे इस बात का अभिमान है, क्योंकि हिन्दुओं के स्वाभिमान की रक्षा के लिए ज़रूरी था।'

आखिर यह कैसा स्वाभिमान है जो किसी दूसरे के खून पर पलता है? और आखिर वह व्यवस्था कैसी है, जिसमें कोई व्यक्ति इस तरह के शर्मनाक बयान देकर स्वयं को गौरवान्वित समझ सकता है?

हिटलर ने स्वयं को कभी ग़लत नहीं समझा था। स्टालिन ने भी। कोई भी तानाशाह अपने किसी (कु) कृत्य के लिए कभी स्वयं को शर्मिंदा महसूस नहीं करता। यही स्थिति किसी नाथूराम गोडसे या उस तरह के सोच वाले किसी भी व्यक्ति की होती है, जो बनते हुए इतिहास को काला चश्मा पहनी आँखों से

देखता है और जो यह मानता है कि जो वह सोचता है, वही सही है। ऐसा नहीं है कि आज से पहले महात्मा गाँधी की हत्या का औचित्य सिद्ध करने की बेशर्म कोशिश न हुई हो। पहले भी हुई है। यहाँ तक कि गाँधीजी को महात्मा या राष्ट्रपिता कहने पर आपत्ति उठाकर उनके प्रति और उनके बताए रास्ते के प्रति घृणा प्रकट करने के प्रयास भी हुए हैं। पर आज जिस तरह और जिस विश्वास के साथ न केवल गाँधी को नकारने की कोशिश हो रही है, बल्कि गाँधी की हत्या को भी आवश्यक और राष्ट्र के हित में बताया जा रहा है, वैसा तेवर पहले कभी नहीं था। सवाल गाँधी को नकारने का नहीं है। सवाल उस प्रवृत्ति का है जो हिंसा को, घृणा को मान्यता ही नहीं देती, उसे महिमामंडित करती है और फिर उसके प्रभामंडल में स्वयं को गौरवान्वित महसूस करती है।

गोडसे अपनी अस्थियों को सिंधु नदी में विसर्जित करना चाहता था, इससे किसी को कोई शिकायत नहीं होगी। लेकिन, गोडसे की अस्थियों का हवाला देकर यदि इस देश में, समाज में नफरत का ज़हर फैलाने की कोशिश होती है तो हर विवेकशील नागरिक का दायित्व हो जाता है कि वह उसका विरोध करे। देश को धर्मों और जातियों में बाँटने की कोशिश क़ानून की कौन-सी धारा के अंतर्गत अपराध ठहरती है और क़ानून ही रक्षा करने वाले उस धारा का उपयोग करते हैं या नहीं, यह सत्ता और व्यवस्था के देखने की बात है। लेकिन यह देखना हर नागरिक का कर्तव्य है कि बाँटने की ऐसी कोई कोशिश सफल न हो पाए। अभिव्यक्ति की आज़ादी का अधिकार तो हमारा संविधान देता है, पर घृणा फैलाने का नहीं। अपने विचारों को समाज के सामने रखने की आज़ादी तो सबको है, पर साम्प्रदायिकता की आग भड़काकर राष्ट्र-राज्य को ख़तरे में डालने की आज़ादी किसी को नहीं है। वह कोई भी दर्शन या विचारधारा जो इस देश को, समाज को बाँटती है, हमारी विचारधारा नहीं हो सकती। और न ही ऐसी किसी विचारधारा को फैलाने का अवसर किसी को दिया जाना चाहिए। गोडसे के अनुयायी यह मानते हैं कि यदि गाँधी को ज़िंदा रहने दिया जाता तो वे एक और पाकिस्तान बना देते। वे यह भी मानते हैं कि सिंधु नदी के जिन किनारों पर वेद रचे गए थे, वह भूमि अखंड भारत का हिस्सा होनी चाहिए। उन्हें कोई कैसे समझाए कि जिस तरह की धार्मिक कट्टरवादिता और आपसी वैमनस्य की हवा वे बहा रहे हैं, उससे नक़्शे पर भले ही कोई और पाकिस्तान न बने, दिलों और दिमाग़ों पर उसके बनने के सारे अवसर वे प्रदान कर रहे हैं। और उन्हें कौन समझाए कि अखंड भारत की कोई भी परिकल्पना भौगोलिक आधारों पर नहीं, आपसी समझ, सौहार्द और आदमी को आदमी

समझने की नींव पर खड़ी हो सकती है। वे जिस घृणा का सहारा लेकर अपने (कु) कृत्य का औचित्य सिद्ध करने में लगे हैं, उस घृणा के बीज से कोई स्वस्थ समाज या राष्ट्र नहीं पनप सकता। इसलिए हिटलरी-प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना ज़रूरी है। और यह अंकुश व्यवस्था नहीं, व्यक्ति को लगाना होगा। हर विवेकशील नागरिक का कर्तव्य है कि वह ऐसी प्रवृत्तियों के विरोध में खड़ा हो जो हमें बाँटने का कारण बन सकती है, बाँटकर हमें इतना कमज़ोर बना सकती है कि फिर कभी खड़े होने लायक ही न रहें।



दाँव पर हमारा अस्तित्व लगा है

'ह' से बनता है हिन्दू
और 'म' से मुसलमान
जब दोनों मिलते हैं
तो हम बनते हैं।

ये पंक्तियाँ मैंने कई साल पहले अलीगढ़ में सुनी थीं। तब अलीगढ़ में साम्प्रदायिकता की आग सुलग रही थी और जिस व्यक्ति ने मुझे ये पंक्तियाँ सुनाई थीं, उसका जवान बेटा साम्प्रदायिकता की आग में झोंका जा चुका था। (मैं कहना चाहूँगा कि वह व्यक्ति, जिसने मुझे ये पंक्तियाँ सुनाई थीं, हिन्दू नहीं, मुसलमान था।) बाद में मुझे पता चला कि ये पंक्तियाँ आज़ादी की लड़ाई में ख़िलाफत आंदोलन के दौरान लोग गाया करते थे। इस आंदोलन के माध्यम से महात्मा गाँधी ने एक ऐसी सचाई को आकार दिया था, जिसके बिना आज के भारत का नक़्शा नहीं बन सकता था। हिन्दू और मुसलमान को भारतमाता की दो बाँहें कहने वाले राष्ट्रपिता ने तब यह भी स्पष्ट कर दिया था कि कल जो भारत बनेगा वह किसी एक धर्म की बपौती नहीं होगा, सभी धर्मों का साझा घर होगा। महात्मा गाँधी पहले महापुरुष नहीं थे, जिन्होंने 'ईश्वर-अल्लाह तेरा नाम' कहा। कबीर, नानक की एक लम्बी परम्परा है हमारे यहाँ, जिसने धर्म के नाम पर आदमी को बाँटने की वहशियत को पहचाना था और कहा था कि 'मानस की जात सबै एकै पहिचानबो।' और जब हमने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को इस देश के संविधान का एक आधार बनाया तो हम उसी परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। यह संविधान हमने १९४७ के विभाजन के बाद बनाया था, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि इतिहास की उस त्रासदी के बावजूद मनुष्य की एकता और समानता में हमारा विश्वास अडिग रहा था और हम यह मानने को तैयार नहीं थे कि धर्म के नाम पर आदमी को या देश को बाँटा जा

सकता था। बाद में जब १९७१ में पाकिस्तान के दो टुकड़े हुए तब यही सत्य रेखांकित हुआ था कि धर्म किसी देश के निर्माण का आधार नहीं हो सकता और मात्र धर्म किसी राष्ट्र को एक नहीं रख सकता।

लेकिन इन सबके बावजूद हमारे देश में जब-तब धर्म का नाम लेकर साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने की कोशिशें होती रही हैं। यही नहीं राजनीतिक दल हमेशा धर्म के नाम पर वोट बैंकों के निर्माण की कोशिशें करते रहे हैं। इन सारी कोशिशों का ही यह परिणाम है कि कभी कोई अपने आपको गर्व से हिन्दू कहता है और कभी कोई मुसलमान होने पर फ़ख़्र करता है। कभी धर्म के नाम पर सिख अपने अलग राज्य का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश करते हैं और कभी कोई ईसाई अपने ईसाई होने को भारतीय होने से अधिक महत्वपूर्ण मानने लगता है। जब यह सब होता है तो दरारें पड़ती हैं, नींव कमजोर होने लगती है, देश टूटने लगता है।

आज फिर दरारें पड़ रही हैं।

उत्तरप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, आंध्र और बिहार समेत देश के कई अन्य राज्यों में भी साम्प्रदायिकता की आग लगी हुई है। सवाल यह नहीं है कि पहले हर-हर महादेव का नारा लगा या अल्लाह हो अकबर का, सवाल यह भी नहीं है कि किसने किसको उकसाया। सवाल यह है कि आज एक बार फिर भारत राष्ट्र की मूल अवधारणा को चुनौती दी जा रही है। दंगों में चाहे हिन्दू का ख़ून गिरे या मुसलमान का, मरता भारतीय ही है, कोशिश की जा रही है कि हम इस हकीकत को भूल जाएँ।

इस कोशिश का निशाना न बाबरी मस्जिद है और न ही राम जन्मभूमि। इस कोशिश का निशाना धर्मनिरपेक्षता का वह सिद्धान्त है, जिसे हमने अपने संविधान में इस देश के 'राजधर्म' के रूप में स्वीकार किया था। इसलिए ऐसी कोशिश करने वाला हर व्यक्ति, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, इस देश के संविधान का अपमान करने का अपराधी है।

'जिस संविधान में पिछले ३८ सालों में ६६ संशोधन हो चुके हैं, उसमें एक और संशोधन करके हम धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की ही छुट्टी क्यों नहीं कर सकते?'

यह तर्क देने वाले लोग वे हैं, जो यह मानते हैं कि १९४७ में देश के बँटवारे के समय धर्मों का भी बँटवारा हो गया था, इसलिए जो मुसलमान उस

वक़्त पाकिस्तान नहीं गए, उन्हें हिन्दू भारत में दूसरे दर्जे का नागरिक बनकर रहना होगा। यही वे लोग हैं, जो यह मानते हैं कि मुसलमानों को अपनी राष्ट्रभक्ति का भी लगातार प्रमाण देते रहना चाहिए।

यहाँ हम इस बहस में नहीं पड़ना चाहते कि सभी मुसलमान १९४७ में पाकिस्तान क्यों नहीं चले गए, लेकिन इतना तो कहना ही पड़ेगा कि आबादी का बँटवारा न तो देश के बँटवारे की शर्त थी और न ही यह सम्भव था। आज स्थिति यह है कि जो जिस देश में है, वह उस देश का नागरिक है और देश का संविधान जो अधिकार एक नागरिक को देता है, उन अधिकारों से उसे वंचित नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही जो कर्तव्य संविधान निर्देशित करता है, उन कर्तव्यों से भी कोई नागरिक ऊपर नहीं रह सकता।

करोड़ों मुसलमान यदि आज भारत में हैं तो किसी की कृपा के कारण नहीं। यह देश उतना ही उनका भी है जितना हिन्दुओं या सिखों या बौद्धों का। संविधान प्रदत्त सभी अधिकार उनके भी हैं और संविधान में उल्लिखित सभी कर्तव्य उनके लिए भी हैं।

इस एक तथ्य को यदि हम स्वीकार कर लेते हैं, तो फिर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार करने की बहस भी ख़त्म हो जाती है।

धर्मनिरपेक्षता न तो धर्म का नकार है और न ही धर्म की अवहेलना। धर्मनिरपेक्षता नाम है सभी धर्मों को समान रूप से देखने की निष्ठा का। सर्वधर्म समभाव। यह दर्शन न तो नेहरू का है और न ही आम्बेडकर का। यह भारतीय परम्परा का दर्शन है—परम्परा, जिसमें तुलसी ने राम के हाथों शिव की पूजा कराकर शैवों और वैष्णवों के बीच की दूरी समाप्त की थी; परम्परा जिसमें अनीश्वरवादी बुद्ध भी ईश्वर का अवतार मान लिए गए।

आज इस परम्परा को तोड़ने की कोशिश की जा रही है। देश के अलग-अलग हिस्सों में उमड़ा साम्प्रदायिकता का उन्माद मानस की जात को टुकड़ों में बाँटने का षड्यंत्र रच रहा है और दुःख की बात यह है कि जब-जब इस उन्माद ने सिर उठाया है, उसके पीछे तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों का हाथ दिखाई देता है। इस देश की एकता, अस्मिता और इस देश का अस्तित्व सब कुछ उनके लिए बौना हो चुका है, जो साम्प्रदायिकता की आग पर अपनी राजनीति की रोटियाँ सेंकना चाहते हैं। आडवाणीजी भले ही कितने ही दावे करें कि सोमनाथ से चला उनका रथ राष्ट्र को जोड़ने की एक पवित्र कोशिश थी, पर सचाई जो सामने आ रही है, वह यह है कि इसके पीछे उड़ती धूल में साम्प्रदायिक विद्वेष

की आँधी बनने की ताक़त थी। आडवाणी के रथ का चालक यदि एक मुसलमान था तो इससे उस चालक की गरिमा ही सामने आती है, इससे उस सत्य पर पर्दा नहीं पड़ता कि रथ के पीछे चलने वाले 'भक्त' मुसलमानों की राष्ट्र-भक्ति और निष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लगाते चल रहे थे। गली-मोहल्लों तक रथ-यात्रा का संदेश पहुँचाने के लिए आयोजित राम-ज्योति यात्राओं में खुलेआम मुसलमानों को राष्ट्रद्रोही कहा जा रहा था। इसके बाद जो कुछ हुआ उसके अलावा हो भी क्या सकता था ?

वस्तुतः सचाई यह है कि नेताओं ने तो अपनी रोटी सेंकने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी थी। लालकिले से मोहम्मद साहब के जन्मदिन पर छुट्टी की घोषणा करने वाले प्रधानमंत्री भी एक वोट बैंक बनाने में लगे हुए थे और रथ-यात्रा के माध्यम से राम के नाम पर हिन्दू भावनाओं के वोट बटोरने की कोशिश करने वाले भाजपा के अध्यक्ष भी अपने तरीके से वही काम कर रहे थे। वोट बैंक की दृष्टि से दोनों के काम भले ही कितने ही सही क्यों न दिखते हों, भारत के गंगा-जमुनी सांस्कृतिक संदर्भ में यह काम किसी अपराध से कम नहीं था।

पर सवाल उठता है, यह अपराध हम कब तक करते रहेंगे ? आज़ादी से पहले शुरू हुआ साम्प्रदायिक ताक़तों का राजनीतिकरण आख़िर कब तक चलता रहेगा ? धार्मिक मूल्य और संस्थाएँ कब तक राजनीतिक स्वार्थों की बैसाखी बनी रहेंगी ?

आज जिस दौर से देश गुज़र रहा है, उसमें यह ज़रूरी हो गया है कि हम इन सवालों पर ग़ौर करें। और इस बात पर भी ग़ौर करें कि धर्म की जय के नाम पर कहीं साम्प्रदायिकता के झंडे को तो ऊँचा नहीं किया जा रहा ? नहीं, कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म को ग़लत नहीं कहता, कोई भी धर्म हिंसा की प्रेरणा नहीं देता, कोई भी धर्म घृणा नहीं फैलाता। ये सारे काम साम्प्रदायिकता करती है। धर्म तो अमृत है। हवा में ज़हर घोलने का काम धर्म के नाम पर झण्डा उठाने वाली साम्प्रदायिकता करती है। हमारी लड़ाई इस साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ होनी चाहिए। फिर चाहे वह हिन्दू साम्प्रदायिकता हो या मुसलमान साम्प्रदायिकता- दोनों देश की दुश्मन हैं, दोनों मनुष्यता की दुश्मन हैं।

इसके ख़िलाफ जो लड़ाई होनी है, वह लंबी लड़ाई होगी और हर सोचने-समझने वाले को अपने स्तर पर इसे लड़ना होगा। कौन किस ढंग से यह लडाई लड़ता है, यह भी उसे खुद तय करना है, पर एक सामान्य मुद्दा जो ऐसी हर लड़ाई का हिस्सा बनेगा, वह यह स्वीकार [redacted] कि भारत किसी एक धर्म या जाति की बपौती

नहीं है, कि सर्वधर्म समभाव भारत के अस्तित्व की आवश्यकता है।

साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ यह लड़ाई कुल मिलाकर हमारे अस्तित्व की लड़ाई है। इसलिए जो भी साम्प्रदायिक तत्वों को भड़काने की कोशिश करता है, वह हमारा दुश्मन है। साम्प्रदायिक तत्वों को भड़काने की कोशिश करने वाला न तो सही मायनों में हिन्दू है और न ही सही मायनों में मुसलमान। वह सिर्फ़ अपने निहित स्वार्थों के लिए खेलने वाला एक कुटिल खिलाडी है। यह बात समझकर ही हम अपने इस दुश्मन के खिलाफ़ लड़ सकते हैं। यह लड़ाई हमें लड़नी है। और जीतनी भी है। दाँव पर हमारा अस्तित्व लगा हुआ है।



अवसर गाँठें खोलना का

अयोध्या में शिलादान के पहले और बाद में विश्व हिन्दू परिषद के नेताओं ने बहुत कुछ कहा है। इस कहे हुए में विरोधाभास भी है, अस्पष्टता भी। पर इसके बावजूद यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि विहिप ने यह कहना ज़रूरी समझा कि विश्व हिन्दू परिषद राम जन्मभूमि विवाद के संदर्भ में न्यायालय के निर्णय को स्वीकार करेगी। यह सवाल मन में उठना स्वाभाविक है कि यह बात पहले क्यों नहीं समझी जा सकती थी, या कही जा सकती थी? एक प्रतिप्रश्न और भी उठता है इसके साथ—क्या भरोसा कि विहिप आज जो कह रही है, कल उस पर कायम भी रहेगी? दोनों सवाल उतने सहज अथवा सरल नहीं हैं, जितने लगते हैं। पहले दूसरे प्रश्न की बात—विहिप पर भरोसा क्यों नहीं। इसलिए कि विहिप निरंतर तेवर बदलती रही है और इसलिए भी कि भारत राष्ट्र-राज्य की सेक्यूलर छवि के साथ विहिप की कथनी-करनी मेल नहीं खाती। विहिप की आक्रामक मान्यताएँ और अपने कथित अधिकार के लिए मर मिटने की घोषणाएँ सहिष्णुता एवं सामंजस्य की भारतीय परम्परा के विरुद्ध जाती हैं और अतार्किक व्यवहार सोच और समझ की सीधी रेखाओं को आड़ा-तिरछा काट जाता है।

जहाँ तक न्यायालय के निर्णय को स्वीकार करने का सवाल है, विहिप एवं संघ-परिवार के सदस्य मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू के सिद्धान्त को स्वीकारते नज़र आते रहे हैं। बार-बार यह बात कही जाती रही है कि आस्था के प्रश्नों का निपटारा न्यायालयों में नहीं होता। ऐसे में अचानक विहिप का यह बयान आना कि उसे न्यायालय का निर्णय मान्य होगा—भले ही वह उसके विरोध में ही क्यों न हो- मीलों तक फैले सूखे रेगिस्तान में नखलिस्तान का-सा सुख

देने वाला है और यदि दूसरा पक्ष यानी मस्जिद के दावेदार भी यह बात कहते हैं कि उन्हें न्यायालय का निर्णय मान्य होगा, तो यह उम्मीद करना ग़लत नहीं होगा कि अब कुछ हो सकता है। सवाल सिर्फ़ यह है कि यह 'कुछ' क्या है ?

यह कुछ भारतीय समझ और मनीषा की परिभाषा हो सकती है।

भारतीय सोच अर्थात वह सोच जो भारतीय है- धर्मों, वर्गों, जातियों के संकीर्ण सोच की सीमाओं से कहीं पार मनुष्यता के अंतरिक्ष के विस्तार वाला सोच। इस सोच के लिए मंदिर और मस्जिद दोनों पवित्र हैं, क्योंकि ये दोनों उस तक पहुँचने के साधन हैं, जिस तक पहुँचना आस्तिक मानस का लक्ष्य होता है। ऐसा सोच रक्त के गुबार उठाने वाली रथ-यात्रा का भी विरोधी होता है और धर्म के नाम पर किसी रेलगाड़ी में मनुष्यों को जला देने वाली बीमार मानसिकता का भी।

गोधरा में जो कुछ हुआ वह मात्र देश के नाम पर ही नहीं, मनुष्यता के नाम पर भी कलंक है। जघन्य अपराध है यह। इस अमानुषिक कृत्य के अपराधियों को दण्ड मिलना ही चाहिए। पर उसके बाद देश में, ख़ासकर गुजरात में, जो कुछ हुआ उससे भी देश कलंकित हुआ है। आज गोधरा और अहमदाबाद राष्ट्रीय शर्म का प्रतीक बन चुके हैं--स्वतंत्र भारत के इतिहास का एक ऐसा अध्याय जो आने वाली पीढ़ियों को यह बताएगा कि यदि सही अर्थों में न समझा जाए तो धर्म आदमी को जानवर से भी बदतर बना देता है। नहीं, धर्म नहीं, धर्म की हमारी विकृत समझ हमें पशुता की परिभाषा का हिस्सा बनाती है।

पशुता का अर्थ पशु होना नहीं, पशुओं जैसा व्यवहार करना होता है--विवेकहीन व्यवहार। यह विवेकहीन व्यवहार रेलगाड़ी जलाने वालों ने ही नहीं किया, लोगों के घर जलाने वालों ने भी किया। तलवार चलाने वालों ने भी किया और त्रिशूल उठाने वालों ने भी। और जब गुजरात का मुख्यमंत्री यह कहता है कि किसी भी क्रिया की प्रतिक्रिया होती है तो न्यूटन का सिद्धान्त बघारने के बावजूद वह विवेकहीन व्यवहार कर रहा होता है। अथवा जब कोई इस संदर्भ में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद हुए दंगों का हवाला देकर किसी कुकृत्य का बचाव करता है तो वह भी अपनी विवेकहीनता का ही परिचय दे रहा होता है।

जब इस विवेकहीनता के साथ संवेदनशीलता का अभाव जुड़ जाता है तो उसे पशुता के अलावा और कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती।

तो क्या हम पशु बन गए हैं ?

यह सवाल हममें से हर एक को अपने आपसे पूछना होगा। कोई तर्क मनुष्य की पशुता का कवच नहीं बन सकता। कभी बनता भी नहीं। और पशुता पशुता होती है। कम या ज़्यादा विशेषण जोड़कर उसे समझना नासमझी है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम इसी तरह उसे परिभाषित करना चाहते हैं, ताकि अपने या किसी के किए के अनौचित्य का चेहरा बदल सकें। पर ऐसी कोई भी कोशिश चेहरे को ढँक तो सकती है, उसे बदल नहीं सकती। इस तरह चेहरे ढँकना भी अपराध की श्रेणी में ही आता है। अब चेहरे ढँकने की नहीं, चेहरे सामने लाने की ज़रूरत है, ताकि वक़्त की ज़रूरतों को समझने की कोई ईमानदार और सार्थक कोशिश हो सके।

बाबरी मस्जिद का बनना इतिहास की कोई भूल हो सकती है, पर ऐसी किसी मस्जिद को ढहाना इतिहास की गलती सुधारना नहीं हो सकता। इस कृत्य को इतिहास की एक और ग़लती के रूप में ही दर्ज किया जाएगा—और इसी रूप में समझा भी जाएगा। आज इस दुहरी भूल को सुधारने का अवसर हमारे हाथ आया है। इस भूल को सुधारने का मतलब किसी मंदिर या मस्जिद का निर्माण नहीं है, इस भूल को सुधारने का मतलब है अपने भीतर के मनुष्य को पहचानने की कोशिश करना, अपने भीतर की पशुता से उबरने की कोशिश करना। गोधरा और अहमदाबाद में हमारे भीतर का पशु जागा था, हावी हो गया था हम पर। ज़रूरत इस पशुता को ढहाने की है, एक ऐसा मंदिर बनाने की है, जिसमें मनुष्यता की पूजा हो। पर हम तो पशुता के प्रासाद बनाने में जुटे हुए हैं। गोधरा, अहमदाबाद, भावनगर... ये शहरों के नाम हो सकते हैं, पर ये हमारी पशुता के प्रासादों का प्रतीक भी हैं। कैसे बदलेंगे इन प्रतीकों के अर्थ हम ? गुजरात में जो कुछ हुआ, उसने गोधरा काण्ड के षड्यंत्रकारियों के मंसूबों को ही पूरा किया है और अब गोधरा काण्ड का नाम लेकर राम मंदिर के निर्माण की शपथें भी उसी षड्यंत्र की सफलता की सीढ़ियाँ बन रही हैं। यह षड्यंत्र देश को साम्प्रदायिकता की आग में जलाने का है। देश को बचाना है तो इस षड्यंत्र को विफल बनाना ही होगा। और यह षड्यंत्र विवेकहीनता का शिकार बनकर नहीं, विवेकशीलता को अपनाकर ही विफल हो सकता है।

विवेक हमारे जीने की शर्त है। हम विवेकहीनता के शिकार नहीं बनेंगे। किसी मंदिर या किसी मस्जिद का कोई पैरोकार हमारे अस्तित्व का रक्षक नहीं हो सकता। यह सब कुछ यदि हमारी समझ में आता है तो यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि साथ जीने के लिए साथ जीने की शर्तों

का पालन भी ज़रूरी होता है।

यदि यह सही है कि विश्व हिन्दू परिषद वाले न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए तैयार हो गए हैं, तो यह एक सुअवसर है गाँठें खोलने का। समस्या की गाँठें भी और मन की गाँठें भी। सवाल यह है कि यदि हम न्यायालय का निर्णय मानने के लिए तैयार हैं, तो एक क़दम आगे बढ़कर एक निर्णय हम स्वयं क्यों नहीं ले सकते। न्यायालय का निर्णय या मंदिर वालों के पक्ष में होगा या मस्जिद वालों के। हम ऐसा कोई निर्णय क्यों नहीं ले सकते जो दोनों के पक्ष में हो? अहमदाबाद में राम-रहीम मोहल्ला हिन्दुओं-मुसलमानों के साथ-साथ जीने का उदाहरण बन सकता है, तो अयोध्या में राम-रहीम साथ-साथ क्यों नहीं पूजे जा सकते?

अयोध्या के नाम पर हमने जो समस्या अपने मनों में खडी कर रखी है, उसका समाधान मंदिर या मस्जिद नहीं है, मंदिर और मस्जिद हो सकता है। अब हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को ऐसे ही किसी हल की दिशा में संकल्पशील एवं क्रियाशील होना होगा। धर्म या मज़हब हमारे भीतर की पशुता को नहीं, मनुष्यता को उजागर करने का माध्यम बनना चाहिए। जो कुछ श्रेष्ठ है जीवन में, धर्म उसका प्रतीक होता है। जो कुछ सही और उचित है जीवन में, मज़हब उसकी परिभाषा है। जो धर्म मनुष्यता को 'हम' और 'वे' में बाँटता है, वह और कुछ भी हो सकता है, धर्म या मज़हब नहीं। 'हम' और 'वे' की भाषा धर्म नहीं, राजनीति बोलती है। बहुत हो चुके हम इस राजनीति के शिकार। अब कहीं पूर्णविराम लगना ही चाहिए। आज यह पूर्णविराम लगाने की ज़रूरत है—और मौका भी। हम कब तैयार होंगे ऐसे अवसर का लाभ उठाने के लिए? रामलला के सिर पर छत या ख़ुदा का घर बनाने वाले हम कौन होते हैं? वो, यदि है, तो हमसे कहीं अधिक सक्षम और समर्थ है। उसे नहीं, हमें उसके सहारे की ज़रूरत है। वही हमें नेक बुद्धि दे सकता है, पर हम झोली तो फैलाएँ।

इस झोली फैलाने का मतलब यह है कि हम अपने गरेबान में झाँके। देखें कि हम लगातार कितने छोटे होते जा रहे हैं। हमारी ज़मीन और हमारा आसमान बँटे हुए हैं। संकुचित सोच हमें छाती फुलाकर साँस लेने का मौका भी नहीं दे रहा, और हम इस घुटती साँस के अर्थ को न समझने की ज़िद पाले हुए हैं। जहाँ तक अयोध्या समस्या के समाधान का प्रश्न है, बात अदालत के फैसले तक सीमित नहीं है। आज देश को उससे कहीं आगे बढ़कर सोचने की ज़रूरत है। अहमदाबाद के जिस राम-रहीम मोहल्ले की बात ऊपर कही गई है, वह

समूचे भारत का प्रतीक बनना चाहिए। हमारे सोच का हिस्सा बनना चाहिए। इसके लिए ज़रूरी है कोई ऐसा रास्ता निकले जो हमारे दिलों के भीतर से होकर गुज़रे। यह रास्ता सहअस्तित्व का रास्ता है। मंदिर में आरती हो, मस्जिद से अज़ान की आवाज़ उठे, इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं हो सकता-न ही होना चाहिए। मंदिर या मस्जिद नहीं, मंदिर और मस्जिद के किसी विकल्प पर हमें सोचना होगा। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने बंगलोर में 'बहुसंख्यकों की सद्भावना' की बात उठाकर एक दुर्भाग्यपूर्ण चाल चली है। सद्भावना अर्जित करना एक बड़ी बात है, पर सद्भावना लुटाना उससे कहीं अधिक बड़ी बात है। यह सद्भावना आपसी समझ से उपजती है। आज उस आपसी समझ को आकार देने की ज़रूरत है, जो हमें भारतीय होने का अहसास दिलाए। 'हम' और 'वे' की भावना से ऊपर उठकर ही देश एक ऐसी सामासिक संस्कृति का निर्माण कर सकता है, जिसमें अल्लाह और ईश्वर दो नहीं होते। इसी सामासिक संस्कृति का तकाज़ा है कि हम साथ-साथ जीना सीखें। साथ जीना सीखने की यह शुरुआत अब समाज के हर वर्ग से एक नए नेतृत्व की अपेक्षा करती है। नेतृत्व, जिसकी निगाह बीते हुए कल पर नहीं, आने वाले कल पर हो। अब कोई आवाज़ ऐसी उठनी चाहिए जो कह सके, यह मौक़ा तोड़ने का नहीं जोड़ने का है। टूटने का नहीं, जुड़ने का है। जुड़ने का मतलब अपने अहं के अँधेरों से उबरना होता है, संकुचित सोच को विस्तार देना होता है। यह समझ और यह समझदारी कोई देने नहीं आएगा हमें। इसे हमें अपने भीतर से ही पैदा करना होगा। यह काम आज ही शुरू होना चाहिए। कल शायद बहुत देर हो जाए।



वोट की राजनीति

पिछले लगभग एक महीने में मुंबई उच्च न्यायालय ने एक के बाद एक तीन चुनाव-याचिकाओं पर निर्णय दिए और इन तीनों निर्णयों में निर्वाचित प्रतिनिधियों को चुनाव-प्रचार के दौरान ग़लत आचरण का दोषी पाया। इन तीन में से दो विधायक मुंबई से शिवसेना के उम्मीदवार के रूप में विजयी हुए थे और तीसरी विधायक बीड़ ज़िले से भारतीय जनता पार्टी की टिकट पर चुनाव जीती थी। विद्वान न्यायाधीश ने इन तीनों विधायकों को धार्मिक भावनाएँ उभारकर वोट बटोरने की कोशिश करने का दोषी पाया है और तीनों के चुनाव रद्द हो गए हैं। इससे पहले भी मुंबई के ही एक चुनाव क्षेत्र से शिवसेना के टिकट पर जीतकर आए एक विधायक का चुनाव इसी आधार पर अवैध घोषित हो चुका है।

निःसंदेह ये सारे मामले अब सर्वोच्च न्यायालय में जाएँगे--एक तो जा भी चुका है। पर इस अपील के बावजूद उच्च न्यायालयों के निर्णय का महत्व कम नहीं हो जाता। निर्णय बहुत स्पष्ट है। इन चारों प्रकरणों में न्यायालय ने आरोपियों को जनप्रतिनिधि क़ानून की धारा १२३, उपधारा (३) तथा (४) के तहत भ्रष्ट चुनावी तरीका अपनाने का दोषी पाया है।

क्या है यह भ्रष्ट तरीक़ा ?

इस भ्रष्ट तरीक़े का मतलब है, धर्म के नाम पर लोगों को बरगलाने की कोशिश करना, धार्मिक भावनाओं के उन्माद का सहारा लेकर वोट प्राप्त करना।

यह कोई रहस्य नहीं है कि पिछले चुनावों में शिवसेना और भारतीय जनता पार्टी ने हिन्दुत्व के नाम पर वोट माँगे थे। क़ानून की दृष्टि में हिन्दुत्व का नारा लगाकर वोट माँगना ग़लत है। मुंबई उच्च न्यायालय के समक्ष भाजपा-शिवसेना के नौ और विधायकों के ख़िलाफ़ याचिकाएँ विचाराधीन हैं। इन सब याचिकाओं में भी आरोप यही है कि प्रत्याशियों ने हिन्दुत्व के नाम पर वोट माँगकर जनप्रतिनिधि कानून का उल्लंघन किया है। यदि यह प्रमाणित हो जाता है कि हिन्दुत्व के नाम पर वोट माँगे गए थे, तो स्वाभाविक है, न्यायालय इन चुनावों को भी रद्द घोषित कर दे।

भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष मुरली मनोहर जोशी ने इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुए कहा है कि वे इस न्यायालय का सम्मान करते हैं, पर शिवसेना के सर्वोच्च सेनापति बाल ठाकरे ने न केवल यह कहा है कि न्यायालय के फ़ैसले पूर्वग्रह से ग्रस्त हैं, बल्कि यह भी कहा है कि यदि हिन्दुत्व के नाम पर वोट माँगना अपराध है, तो वे यह अपराध बार-बार करते रहेंगे।

यदि कोई अपराधी इस तरह की घोषणा करके अपराध दुहराता है तो वह कहीं अधिक कड़ी सज़ा का भागी बनना चाहिए। पर यहाँ थोडा-सा पेच है। शिवसेना, और भाजपा भी, हिन्दुत्व का नारा लगाकर वोट माँगने को अपराध नहीं मानते। इसलिए, न तो उन्हें पिछले चुनावों में हिन्दुत्व की बात करने का कोई ग़म है और न ही वे इन चुनावों में हिन्दुत्व की बात करने से बाज़ आ रहे हैं। मतलब यह कि यदि यह अपराध है तो वे यह अपराध फिर करेंगे। फिर मामले न्यायालय में जाएँगे। फिर चुनाव रद्द घोषित होंगे...और यह सिलसिला चलता रहेगा।

लेकिन क्या इस सिलसिले का चलते रहना हमारे समाज और राष्ट्र के हितों के अनुकूल होगा ? धर्म के नाम पर कितने वोट मिलते हैं, यह कहना तो आसान नहीं, पर धर्म के नाम पर वोट माँगना ग़लत है, इस तथ्य को पहचानने के लिए किसी न्यायालय के निर्णय की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। हमने धर्मनिरपेक्षता को एक जीवन पद्धति के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि इसे भारत राष्ट्र-राज्य के बने रहने की आवश्यकता भी माना है। हमने माना है कि विभिन्न धर्मों के समुदायों वाला यह देश 'सर्वधर्म समभाव' को अपनाकर ही एक बना रह सकता है। हमने यह भी माना है कि हमारे राजकारण में धर्म का हस्तक्षेप हमारे व्यापक हितों के प्रतिकूल होगा। इसलिए वह अनुचित है। चुनाव में धर्म के नाम पर वोट माँगने को अपराध करार देना, इसी मान्यता की तार्किक परिणति है।

ऐसा नहीं है कि इस मान्यता को अब पहली बार चुनौती मिली है। हिन्दू महासभा और रामराज्य परिषद जैसे दलों ने पहले चुनावों में ही धर्म के आधार पर राजनीति करने को सही बताना शुरू कर दिया था। फिर जनसंघ ने इसी नीति को अपनाया। मुस्लिम लीग का गठन भी इसी आधार पर हुआ। पहले चुनाव से लेकर अब तक के चुनाव तक कभी धर्म की दुहाई देकर वोट माँगे गए और कभी धर्म के आधार पर 'वोट बैंक' बनाने की कोशिश की गई। इसके लिए सिर्फ़ वे पार्टियाँ ही दोषी नहीं थीं, जिनका गठन ही धर्म के आधार पर हुआ था। दोषी वे राजनीतिक दल भी थे, जो राष्ट्रीय होने का दावा करते रहे। अन्यथा मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में मुस्लिम उम्मीदवार ही खडा किया जाए, इस आग्रह के

पीछे साम्प्रदायिकता की भावना नहीं तो और क्या हो सकता है ? या फिर ईसाई बहुल इलाक़ों में ईसाइयत की बात करने का और क्या तर्क है ? इन सारी कोशिशों का मतलब धर्म का अनुचित लाभ उठाना ही था।

लेकिन पिछले कुछ सालों में स्थिति में कुछ अंतर आया है। पहले यह काम प्रच्छन्न रूप से होता था, अर्थात धर्म के नाम पर वोट बटोरने की कोशिश तो होती थी, पर साथ ही यह भी कोशिश रहती थी कि काम पर्दे के पीछे होता रहे। पर्दा उठे नहीं। पर अब वह पर्दा उठ गया है, और पर्दा उठाने वाले को इस बात का कोई अहसास भी नहीं है कि उसने कुछ ग़लत काम किया है। हिन्दुत्व की बात ही लें। कोई यदि गर्व से स्वयं को हिन्दू कहता है, तो इसमें किसी को शिकायत नहीं होनी चाहिए। पर ऐसा कहने वाले को यह भी स्वीकार करना होगा कि मुसलमान या ईसाई या बौद्ध को भी अपने धर्म पर उतना ही गर्व करने का अधिकार है, जितना उसे। इस बात को स्वीकार करने के बाद यह अहसास भी हमारे मन में बने रहना चाहिए कि जिस धर्म पर हम गर्व कर रहे हैं, वह किसी दूसरे धर्म से महान नहीं है। सब धर्म समान हैं। तभी पैदा हो सकता है सर्वधर्म समभाव।

लेकिन, हिन्दुत्व को लेकर एक नया सोच प्रतिपादित किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि हिन्दुत्व भारतीयता का पर्याय है, इसलिए हिन्दुत्व की बात करना या हिन्दुत्व के नाम पर वोट माँगना ग़लत नहीं है। भाजपा या शिवसेना जैसे दल इसी तर्क के आधार पर धर्म का लाभ उठाने की अपनी आकांक्षा को राष्ट्रीयता का जामा पहना रहे हैं। यदि यह सही है कि हिन्दुत्व का अर्थ भारतीयता है, तो फिर गर्व से स्वयं को हिन्दू कहने के बजाए गर्व से स्वयं को भारतीय कहना उचित क्यों नहीं होगा ? हिन्दू शब्द की नई परिभाषा करके उसे स्वीकारने के हठ के बजाय भारतीय शब्द की स्वीकृत परिभाषा अपनाने में ग़लत क्या है ? आख़िर अनावश्यक विवाद क्यों खड़ा किया जा रहा है ?

विवाद खड़ा करने का कारण है—हिन्दुत्व के पक्षधर भले ही इसे कुछ भी अर्थ देते रहें, पर इस सचाई पर पर्दा नहीं डाला जा सकता कि हिन्दुत्व के नाम पर एक धर्म विशेष को राजनीतिक हितों के लिए उपयोग में लाए जाने की कोशिश हो रही है। यह कोशिश ग़लत है। मुंबई उच्च न्यायालय के निर्णय इसी ग़लती को रेखांकित करते हैं। बजाय इस ग़लती को स्वीकार करने के, न्यायालय के निर्णयों को चुनौती देकर मतदाता के मन में एक भ्रम बनाए रखने की कोशिश तो हो सकती है, पर ऐसी किसी भी कोशिश का औचित्य स्वयंसिद्ध नहीं है।

स्वयंसिद्ध है तो सिर्फ़ यह कि हिन्दुत्व के नाम पर या धार्मिक भावनाओं

को उभारकर वोट माँगना ग़लत है। क़ानून की दृष्टि से भी और व्यवहार की दृष्टि से भी। आज यदि भाजपा या शिवसेना न्यायालय के निर्णयों को चुनौती दे रहे हैं या उन्हें पूर्वग्रह से ग्रस्त बताकर अपनी यह मंशा ज़ाहिर कर रहे हैं कि वे इन चुनावों में भी इस नारे का लाभ उठाना चाहते हैं, तो उसका सीधा-सा अर्थ यह है कि वे पिछले कुछ अर्से में बोई गई वोट-बटोरू नीतियों की फ़सल काटना चाहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले कुछ अर्से में, ख़ासकर श्री आडवाणी की रथयात्रा के बाद देश की हवा में एक गंध फैली है। इस गंध ने साम्प्रदायिक ताकतों को उन्मादी बनाने की भूमिका निभाई है। यदि समय रहते इस उन्माद पर अंकुश नहीं लगता तो पूरे समाज के ढाँचे में ख़तरनाक दरारें पड़ जाएँगी। यह उन्माद कभी भी देश के हित में नहीं था। आज भी नहीं है। चुनावी गणित भले ही कुछ दलों को इस उन्माद के फ़ायदे गिना रहा हो, पर यह गणित राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है और जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल है, वह दल के हित की दृष्टि से भी तात्कालिक लाभ ही हो सकता है। ज़रूरी है कि राजनीतिक दल इस तात्कालिक लाभ का लालच छोड़ें। न्यायालय के निर्णय भी यही चेतावनी दे रहे हैं।

यह चेतावनी राजनीतिक दलों के लिए तो है ही, मतदाता के लिए भी है। उसे भी सोचना है कि वह दलीय स्वार्थों के कोल्हू का बैल तो नहीं बन रहा। धर्म के नाम पर वोट बैंक यदि बनते हैं, तो सिर्फ़ इसलिए कि वोटर उसमें हिस्सेदारी करता है—फिर चाहे वह अनजाने में ही क्यों न हो। वोटर की यह हिस्सेदारी तभी ख़त्म हो सकती है जब वह इस अधिकार के प्रति जागरूक हो कि उसे राजनीतिक दलों के हितों के कोल्हू नहीं पेरने हैं।

चुनाव याचिकाओं के संदर्भ में मुंबई उच्च न्यायालय के निर्णयों ने सिर्फ़ इतना बताया है कि धर्म के नाम पर वोट माँगना ग़ैरकानूनी है। अब यह अहसास तो राजनीतिक दलों को होना चाहिए कि यह ग़ैरकानूनी काम राष्ट्र की दृष्टि से कितना नुकसानदायक है। राष्ट्र के हित-अहित के प्रति यदि हमारे राजनेता और राजनीतिक दल सचेत नहीं हैं, तो इसका अर्थ सिर्फ इतना है कि वे अपने स्वार्थों की सीमाओं से आगे नहीं देख पा रहे। न्यायालय के निर्णय इस संदर्भ में एक चेतावनी हैं, जो धर्म की गोटियों से वोट की राजनीति करने वालों को समझनी ही होगी। और यदि वे नहीं समझते तो मतदाता को यह बात उन्हें समझानी पडेगी।



वोट बैंकों के दावेदार

रामायण में एक प्रसंग आता है राम की सेना के लंका तक जाने के लिए पुल बनाने का। हनुमान पत्थरों पर राम लिखते जाते हैं, और बन्दर उन्हें उठाकर समुद्र में डालते जाते हैं। राम-नाम की महिमा से जड़ित पत्थर डूबते नहीं, तैरते हैं और पुल बन जाता है। यह त्रेतायुग की बात है। तब राम-शिलाओं ने पुल बनाया था। कलियुग में राम-शिलाएँ दिलों के बीच के सेतु तोड़ने का काम कर रही हैं। विश्व हिन्दू परिषद ने सारे देश में अभियान चलाया है राम-शिलाओं की पूजा का। मंत्रों से अभिसिंचित ये शिलाएँ अयोध्या पहुँचाई जाएँगी राम मंदिर के निर्माण के लिए। हिन्दुत्व की रक्षा के लिए इस राम मंदिर का निर्माण ज़रूरी समझा जा रहा है और यह भी ज़रूरी समझा जा रहा है कि बाबरी मस्जिद को ढहाया जाए। युगों के थपेड़ों को सहने वाला हिन्दुत्व आज राम-शिला के पुजारियों की दृष्टि में ख़तरे में है। इस ख़तरे से उबरने का उन्हें एक ही रास्ता दिख रहा है-सारे हिन्दू संगठित हों, अपनी ताक़त को पहचानें, भारत को एक हिन्दू राष्ट्र बनाएँ। भले ही भारतीय जनता पार्टी यह कहती रहे कि हिन्दुत्व का अर्थ भारतीयता है, पर यह समझने के लिए किसी द्राविड़ी प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है कि वह हिन्दुत्व जो कल तक एक जीवन-प्रणाली था, एक दर्शन था, एक मूल्य था, एक आदर्श था, आज वोट के बाज़ार में सिक्के की तरह उछाला जा रहा है। हिन्दुत्व की रक्षा के नाम पर उन सारे मूल्यों-आदर्शों की बलि दी जा रही है, जिन्होंने आज तक हिन्दुत्व की रक्षा की थी। आज इसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक वैमनस्य का एक ज़हर हवा में घुलता जा रहा है।

'सौगंध राम की खाते हैं, हम मंदिर वहीं बनाएँगे' के नारे से हुई थी शुरुआत हिन्दुत्व रक्षा के इस अभियान की। धीरे-धीरे तेवर बदलता गया और अब नारा लग रहा है, 'जिस हिन्दू का खून न खौले, ख़ून नहीं तो वो पानी है, जन्मभूमि के काम न आए, वह बेकार जवानी है।' और 'जन्मभूमि' 'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' वाली जन्मभूमि नहीं है, यह जन्मभूमि अयोध्या की उस

ज़मीन का नाम है, जहाँ कहते हैं, भगवान राम का जन्म हुआ था और जहाँ आज बाबरी मस्जिद खड़ी है। माँग यह है कि इस मस्जिद को ध्वस्त करके राम मंदिर का निर्माण हो। राम-शिलाएँ इसी मंदिर के लिए पूजी जा रही हैं। लेकिन दुर्भाग्य से मंदिर के निर्माण की यह माँग धार्मिक श्रद्धा या आस्था की सीमाओं को लाँघकर राजनीति के उस पाले में कबड्डी खेलने लगी हैं, जहाँ 'जय श्रीराम' और 'अल्लाह हो अकबर' का नारा भक्ति के प्रदर्शन के लिए नहीं, वैयक्तिक और राजनीतिक स्वार्थों के लिए लगाया जाता है। और इसीलिए ये नारे प्यार के बजाय, नफ़रत के वाहक बन जाते हैं। तब धर्म का स्थान साम्प्रदायिकता ले लेती है। तब कोटा, बदायूँ, इन्दौर, महू आदि शब्दों का मतलब बदल जाता है। ये शहर नहीं रहते, साम्प्रदायिक हिंसा के प्रतीक बन जाते हैं।

यह मात्र संयोग नहीं है कि देश के अलग-अलग हिस्सों में साम्प्रदायिकता के उफनते ज़हर के बीच चुनावों की घोषणा हो गई। हकीकत यह है कि साम्प्रदायिकता को हवा देने का कारण ही चुनावों में वोट बटोरने की आकांक्षा थी। यह आकांक्षा सिर्फ़ उनके दिलों में नहीं पल रही थी, जो हिन्दुत्व का नारा लगा रहे थे, बल्कि वे भी साम्प्रदायिकता की फ़सल काटने की उम्मीदें लगाए बैठे थे, जिन्हें हिन्दुत्व के इस नारे में मुसलमानों के वोट मिलने की प्रतिध्वनियाँ सुनाई दे रही थीं।

दोनों ही पक्ष वोटों की गिनती तो कर रहे हैं, पर उस ख़तरे के आकलन की कोई चेष्टा कहीं दिखाई नहीं दे रही, जो साम्प्रदायिकता के चलते राष्ट्र के भविष्य पर मँडरा रहा है। राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद आज एक ज्वालामुखी बन चुका है जो कभी भी फट सकता है। जब भी यह फटेगा उसके गर्म लावे में हम सब झुलसेंगे—हिन्दू भी, मुसलमान भी।

लेकिन वोट की राजनीति की निगाहें बहुत सीमित हुआ करती हैं। हम सब आज इन सीमित निगाहों के शिकार हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि वोट की यह साम्प्रदायिक राजनीति हमने आज शुरू की है। कांग्रेस शुरू से ही मुसलमानों के वोट बैंक पर भरोसा करती रही है। इस देश के २० प्रतिशत मतदाता मुसलमान हैं और लगभग १०० संसदीय चुनाव क्षेत्रों में वे चुनाव परिणामों पर निर्णायक प्रभाव डाल सकने में सक्षम हैं। इसलिए कांग्रेस ने इस वोट बैंक को रिझाने की हमेशा कोशिश की है। इस कोशिश का लाभ भी कांग्रेस को मिला है। पर आज स्थिति कुछ भिन्न है। अपने आख़िरी चुनाव में इंदिरा गाँधी ने एक नए वोट बैंक को रिझाने की कोशिश की थी—हिन्दू वोट बैंक। अब यह बैंक बाक़ी दलों को

भी ललचा रहा है। ऐसा नहीं है कि इंदिरा गाँधी की १९८० की इस कोशिश से पहले कभी हिन्दुओं का वोट बैंक बनाने की या उसे भुनाने की कोशिश नहीं हुई। पर ऐसी कोशिश कभी सफल नहीं हुई थी। १९८० में पहली बार यह लगा कि ऐसी कोशिश कुछ सफल हो सकती है। आज हिन्दुत्व का जो नारा लगाया जा रहा है, वह इसी अहसास का परिणाम है।

नए वोट बैंक की इस खोज का ही परिणाम है कि सितम्बर तक देश के अलग-अलग हिस्सों में हुए साम्प्रदायिक दंगों में तीन सौ से अधिक व्यक्ति मारे जा चुके हैं- और दंगे देश के उन क्षेत्रों में भी हुए हैं, जहाँ पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। इसके साथ ही इस तथ्य को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि ये दंगे पहले सिर्फ़ शहरी इलाकों तक सीमित रहते थे, अब इनका विस्तार गाँवों तक हो गया है। मतलब यह कि ज़हर फैलता जा रहा है। साम्प्रदायिकता का यह ज़हर फैलाने का काम हिन्दुत्व का नारा लगाने वाले ही नहीं कर रहे हैं, मिजोरम के चुनावों में ईसाइयों के हितों की रक्षा की बात करके या इलाहाबाद में 'राम' और फ़रीदाबाद में 'हनुमान' से चुनाव-प्रचार कराके या ऐन चुनाव के मौके पर उत्तरप्रदेश में उर्दू को राजभाषा घोषित करके स्वयं कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता को हवा दी है। कांग्रेस सरकार द्वारा शाहबानो प्रकरण में उच्चतम न्यायालय के आदेश को धता बताते हुए मुस्लिम महिला विधेयक लाना साम्प्रदायिकता को भुनाने की कोशिश के रूप में ही समझा जाना चाहिए। इसी तरह चित्रकूट में समानांतर हिन्दू सम्मेलन आयोजित करके भी कांग्रेस ने इसी साम्प्रदायिकता का लाभ उठाने की कोशिश की थी।

वोट की राजनीति करने वाले दलों ने हमेशा ही साम्प्रदायिकता की भावना का लाभ उठाने की कोशिश की है। कभी मुस्लिम वोटों को रिझाने के लिए और कभी हिन्दू वोटों को अपनी तरफ करने के लिए मतदाता को हिन्दू और मुसलमान में बाँटा गया है। फिर, यह भी अपने आप में मात्र संयोग नहीं हो सकता कि लगभग हर चुनाव से पहले इस तरह के बँटवारे की कोशिशें हुई हैं। और बावजूद थोड़ी-बहुत सफलता के अब तक हिन्दू वोट बैंक जैसी कोई चीज इस देश में नहीं बन पाई। हाँ, जाति के आधार पर ज़रूर वोट बँटे हैं। अब भी भाजपा या शिवसेना जैसे दल हिन्दुत्व की बात करके उन तथाकथित ऊँची जाति वाले हिन्दुओं के वोटों का ही भरोसा कर रहे हैं, जो राजनीति की इस चाल का शिकार हो सकते हैं। इसका एक नुकसान यह भी होने वाला है कि हिन्दुत्व का यह नारा स्वयं हिन्दुओं को और बाँट देगा। इस ओर शायद हिन्दुओं के स्वयंभू नेताओं का ध्यान नहीं जा रहा। वे इस कल्पना से ही संतुष्ट दिखाई दे

रहे हैं कि तथाकथित ऊँची जाति वाले हिन्दुओं के वोट ही चुनाव का पलड़ा उनकी ओर झुकाने के लिए पर्याप्त होंगे। दूसरी बात जो ये लोग भूल रहे हैं वह यह है कि हिन्दुत्व के नाम पर हिन्दुओं को एक वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल करने की इस कोशिश से मुसलमान कहीं अधिक कांग्रेस-समर्थक हो जाएँगे। इस दृष्टि से भी यह चुनावी रणनीति सही नहीं लगती।

पर सवाल सिर्फ़ चुनावी रणनीति के सही-ग़लत होने का नहीं है। सवाल इस बात का है कि धर्म को भुनाने की कोशिश हो रही है और इस कोशिश में राष्ट्रीय हितों को नज़रअंदाज़ किया जा रहा है। हिन्दुत्व को वोट का सिक्का बनाकर उछालने की राजनीति स्वयं हिन्दुत्व की गरिमा कम कर रही है। पर यह बात वे लोग समझना नहीं चाहते जो 'राम-शिला' के सहारे स्वयं और सत्ता के बीच पुल बनाने के सपने देख रहे हैं।



दाग़ी दामन वाले

अच्छा हुआ धर्म और राजनीति को अलग करने वाले विधेयक पर संसद में बहस टल गई, वरना कइयों को कई-कई सवालों के जवाब देने पडते। जैसे, प्रधानमंत्री नरसिंहराव की पार्टी को बताना पड़ता कि केरल में मुस्लिम लीग से उसके गठबंधन का आधार क्या है ? भारतीय जनता पार्टी को अकालियों के संदर्भ में अपनी कल तक की नीतियों का खुलासा करना पड़ता कि पंजाब के पंचायत चुनावों में दोनों को एक-दूसरे में कोई खामी नज़र क्यों नहीं आई। विधेयक पारित होने की स्थिति में संसद से इस्तीफा देने की धमकी देने वाले जॉर्ज फर्नांडीस के जनता दल से भी पूछा जाता कि दिल्ली के तथाकथित शाही इमाम से फ़तवा जारी करवाना धर्मनिरपेक्षता की किस परिभाषा का हिस्सा है।

वैसे ऐसी बातों के जवाब देना किसी को भी मुश्किल नहीं लगता। हमारे राजनेता बहुत मोटी चमडी वाले होते हैं और झूठ बोलने में भी उन्हें कोई शर्म नहीं आती। सिद्धान्तों की बड़ी-बड़ी बातें ज़रूर करते हैं, पर राजनीतिक स्वार्थों को आदर्शवादी मूल्यों का जामा पहनाने में इन्हें कभी कोई संकोच नहीं हुआ। इनमें से कोई भी इस सचाई को स्वीकार नहीं करेगा कि धर्म-प्रेम या धर्मनिरपेक्षता का नारा उनके लिए किसी सिद्धान्त, मूल्य या आदर्श का प्रतीक नहीं है, बल्कि ऐसे नारों के बल पर उनकी राजनीति चलती है।

पहले कांग्रेस की बात करें। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त हमारे संविधान का हिस्सा है। धर्मों के प्रति शासन का क्या रुख होना चाहिए, हमारे गणतंत्र के लिए यह कोई पहेली नहीं है। धर्म का सहारा लेकर वोट पाना इस देश में ग़ैरक़ानूनी है। यह बात कई चुनावों को अवैध घोषित किए जाने से कई बार सिद्ध हो चुकी है। पिछले चुनावों के बाद ही महाराष्ट्र में भाजपा और शिवसेना के आठ चुनावों को अवैध घोषित करके न्यायपालिका ने बता दिया है कि वर्तमान कानूनों के अंतर्गत भी धर्म की राजनीति से पृथक रखने की व्यवस्था की जा सकती है।

तो फिर कांग्रेस को इस संदर्भ में नया विधेयक लाने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई ? स्पष्ट है, भाजपा की रणनीति को असफल करने के लिए यह कांग्रेसी चाल है। राम नाम पर वोट जुटाकर भाजपा कैसे प्रमुख विपक्ष बनी है, यह किसी खोज का विषय नहीं है। कांग्रेस नहीं चाहती कि नवम्बर में होने वाले चार राज्यों के चुनाव में भाजपा राम नाम की लूट मचा सके। इसलिए वह ऐसी व्यवस्था कर देना चाहती थी कि भाजपा को अपना ब्रह्मास्त्र चलाने का मौका ही न मिले। चुनाव से पहले ही ऐसे उम्मीदवारों को अयोग्य क़रार दिया जाए जो हिन्दुत्व को राजनीतिक लाभ का हथियार बनाना चाहते हैं। यदि यह विधेयक पारित हो जाता तो निश्चित रूप से कांग्रेस को इसका राजनीतिक लाभ मिलता।

ऐसे ही किसी राजनीतिक लाभ की आकांक्षा ने भाजपा को इस विधेयक का विरोधी बनाया है। वरना भाजपा ने यह कब कहा कि धर्म के नाम पर वोट माँगना सही है ! हाँ, यह वह ज़रूर कहती रही है कि हिन्दुत्व का नारा लगाना धर्म के नाम पर वोट माँगना नहीं है ! पंजाब में जब अकालियों ने गुरुद्वारों से राजनीति करनी शुरू की थी, तब भाजपा ने ही सबसे पहले धर्म को राजनीति से अलग करने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया था। इस संदर्भ में सांविधानिक व्यवस्था की बात तब भाजपा ने ही सबसे पहले उठाई थी। पंजाब की राजनीति को गुरुद्वारों से बाहर निकालने की ज़रूरत को रेखांकित करने वाली भाजपा आज मंदिर के माध्यम से राजनीति न किए जाने की किसी कोशिश का विरोध किस आधार पर कर रही है। सच तो यह है कि पंजाब में राजनीति को धर्म से अलग करने की माँग करके भी भाजपा अपना राजनीतिक स्वार्थ साधना चाह रही थी और आज इस विधेयक के विरोध के पीछे भी राजनीतिक हितों के संरक्षण की बात प्रमुख है। मामला सिद्धान्त का नहीं, वोट का है।

आज जनता दल बड़े ज़ोर-शोर से इस प्रस्तावित विधेयक का विरोध कर रहा है। उसकी शिकायत मुख्यत. विधेयक के जातीयता वाले हिस्से से है। पर जिस तरह और जिन स्थितियों में मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का निर्णय जनता दल की वि.प्र. सरकार ने किया था, क्या उसके पीछे मात्र सिद्धान्तों की बात ही थी ? क्या यह एक राजनीतिक आवश्यकता के लिए जल्दबाज़ी में उठाया गया कदम नहीं था ? और जहाँ तक धर्म का लाभ उठाने का सवाल है, शाही इमाम को राजनीति का मोहरा किसने बनाया था ? मोहम्मद साहब के जन्मदिन पर छुट्टी हो, इससे किसी को इनकार नहीं होगा, पर इस आशय की घोषणा लाल किले से करके क्या वि.प्र. सिंह ने मुसलमानों की भावनाओं का राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश नहीं की थी ?

सच तो यह है कि चाहे कांग्रेस हो या भाजपा या जनता दल, सब राजनीतिक स्वार्थों का खेल खेल रहे हैं। धर्मनिरपेक्षता की बात कांग्रेस पहले भी करती रही है। फिर आज अचानक एक नया कानून बनाकर अपनी धर्मनिरपेक्ष छवि को जगज़ाहिर करने की आवश्यकता उसे क्यों महसूस हुई ? यही बात भाजपा में अचानक लोकतंत्र के प्रति उसके प्रेम पर भी लागू होती है। वास्तविकता यह है कि दोनों सिद्धान्तों की आँच पर राजनीति की रोटियाँ सेंकने में लगे हैं। हमारे समय की यह एक दुर्भाग्यपूर्ण सचाई है कि सिद्धान्तों की राजनीति किसी को रास नहीं आती। नारे सब लगाते हैं, पर उन नारों में विश्वास कोई नहीं करता। ऐसा न होता तो राजनीतिक दलों के अवसरवादी चेहरे सामने न आते।

जनतांत्रिक व्यवस्था में मतदाता को रिझाने की ज़रूरत पड़ती है। इसके लिए कुछ लोक लुभावनकारी कदम भी उठाने पड़ते हैं। पर इसका मतलब यह कदापि नहीं होना चाहिए कि राजनीतिक दलों को मतदाता को मूर्ख समझने या मूर्ख बनाने का अधिकार मिल जाए। नहीं, किसी को यह अधिकार नहीं है, इसलिए, जहाँ किसी प्रधानमंत्री का तिरुपति में शीश झुकाने या अजमेर की दरगाह में चादर चढाने का सार्वजनिक प्रदर्शन ग़लत है, वहीं किसी 'भावी प्रधानमंत्री' का रथयात्रा अभियान भी ग़लत है। यदि मुस्लिम लीग साम्प्रदायिक दल है तो शिवसेना की गणना भी उसी कोटि में होती है। यदि कल अकाली दल द्वारा गुरुद्वारों से राजनीति चलाना ग़लत था, तो आज मंदिर के नाम पर राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश करना भी ग़लत है।

कल भी सिद्धान्तों की राजनीति ही सही थी और आज भी सही है। लेकिन यह अपेक्षा करना कि सभी राजनीतिक दल शत-प्रतिशत सिद्धान्तवादी हो जाएँगे, एक तरह से यथार्थ को झुठलाना ही होगा। पर अपेक्षा करना तो ग़लत नहीं माना जाना चाहिए कि राजनीतिक अवसरवादिता को राजनीतिक दल सिद्धान्तों का नाम न दें, राजनीतिक आवश्यकताओं को आदर्श का जामा पहनाकर प्रस्तुत न करें, मतदाता को मूर्ख न समझें और मूर्ख न बनाएँ। भाजपा, शिवसेना, अकाली दल, मुस्लिम लीग राजनीतिक स्वार्थों के लिए धर्म का दुरुपयोग करते हैं, यह एक खुला सत्य है। लेकिन इस सत्य से भी मतदाता अनजान नहीं हैं कि कांग्रेस ने भी जब ज़रूरी समझा है वोट की राजनीति के लिए धर्म का लाभ उठाया है--चाहे मामला मुस्लिम वोट बैंक का हो या हिन्दू वोट बैंक का।

हमने जब भारत को एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र घोषित किया था तो इसका उद्देश्य स्पष्ट था--भारत बहुभाषी, बहुजातीय, बहुधर्मों वाला देश है, इसलिए

सरकार किसी धर्म-विशेष को मान्यता नहीं देगी। अर्थात सरकार न हिन्दू होगी, न मुसलमान, न सिख न ईसाई। सरकार भारतीय होगी। उस भारत में सब धर्मावलंबियों को अपने विश्वासों-मान्यताओं के पालन का अधिकार होगा, पर किसी भी धर्म के विश्वास या मान्यता को दूसरे पर नहीं थोपा जाएगा। इस धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म विहीनता नहीं है—इसका अर्थ मात्र यह है कि न धर्म के नाम पर वोट माँगे जाएँगे, न धर्म के नाम पर लाभ उठाए जाएँगे। हमारा दुर्भाग्य है कि हो यही रहा है। इस स्थिति को बदलना ज़रूरी है, पर ८०वें संविधान संशोधन जैसे क़दमों से यह बदलाव नहीं आएगा। ऐसा कोई भी बदलाव किसी घोषणा से नहीं, कर्म से आता है। इसलिए ज़रूरत संविधान के संशोधन की नहीं, अपने आचरण के संशोधन की है।



यह लड़ाई हम में से हर एक को लड़नी है

जब मुझे 'उर्दू टाइम्स' के लिए कुछ लिखने को कहा गया तो मुझे दिमाग पर ज़ोर नहीं देना पड़ा कि क्या लिखना चाहिए। साम्प्रदायिकता या फ़िरकापरस्ती विषय तत्काल मेरे ज़हन में आ गया था। पर अब, जब मैं लिखने बैठा हूँ तो मुझे सोचना पड रहा है कि आख़िर क्यों यही विषय मेरे ज़हन में आया ? इस क्यों का सीधा-सा जवाब यह है कि मुझे एक उर्दू अख़बार के लिए लिखना है और उर्दू इस मुल्क में दुर्भाग्य से सिर्फ़ मुसलमानों की भाषा मानी जाती है। मतलब यह कि मेरे ज़हन में कहीं न कहीं यह बात घर कर चुकी है कि साम्प्रदायिकता से मुसलमानों का सीधा रिश्ता है। इस समझ के पीछे शायद मेरा हिन्दू मन है, जो मेरे अनजाने ही लगातार सक्रिय बना हुआ है पिछले इन चालीस सालों में। पर मेरा विवेकी मस्तिष्क यह मानने को क़तई तैयार नहीं हो पा रहा कि इस मुल्क में साम्प्रदायिकता की फैलती आग का एकमात्र या बड़ा कारण मुसलमान है।

मैं समझता हूँ, इस समस्या के समाधान की पहली शर्त मन और मस्तिष्क के इस द्वंद्व को ख़त्म करना है। यह जो दूरी और अलगाव दिल और दिमाग़ के बीच हमने पैदा कर लिया है और जिसे हम लगातार बढ़ते रहने दे रहे हैं, उसके लिए सबसे पहले तो हम व्यक्तिगत स्तर पर दोषी हैं। इसलिए हमें सबसे पहले अपने भीतर टटोलना होगा। दूसरा कितना साम्प्रदायिक है, इससे पहले मुझे यह सोचना होगा कि मैं कितना साम्प्रदायिक हूँ।

अपने आपसे यह सवाल पूछने की ज़रूरत महसूस करना, मैं समझता हूँ, सांप्रदायिकता को ख़त्म करने की दिशा में उठाया गया पहला और निर्णायक कदम है। दूसरों पर उँगली उठाना बहुत आसान होता है। इसके लिए न तो जायज कारण की ज़रूरत होती है और न ही पर्याप्त सबूतों की। क्रिकेट के मैदान में जब पाकिस्तान की टीम जीतती है, तो मुम्बई के भिंडी बाज़ार में पटाखे छूटते हैं, यह अफ़वाह ही काफ़ी मान ली जाती है भारत के हर मुसलमान की वतनपरस्ती पर शक करने के लिए। मैं समझता हूँ कि ज़रूरत यह सोचने की है कि अगर ऐसे मौके पर पटाखे छूटते हैं तो क्यों छूटते हैं ? कहीं मेरे व्यवहार में तो ऐसा कुछ नहीं

है जो भिंडी बाज़ार वालों को पटाखे बजाने की प्रेरणा दे रहा हो ? पर इस नज़र से सोचना ज़रा मुश्किल काम है क्योंकि इसमें अपने आप पर उँगली उठानी पड़ती है, अपने व्यवहार के ग़लत सिद्ध होने की भी आशंका है इसमें।

सच पूछा जाए तो इस मुल्क में हिन्दू-मुसलमान के बीच आपसी अविश्वास और घृणा की खाई लगातार चौड़ी होते जाने के लिए कोई एक हिन्दू या कोई एक मुसलमान दोषी नहीं है। सारे हिन्दू और सारे मुसलमान दोषी हैं। इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि अधिसंख्य हिन्दू या अधिसंख्य मुसलमान धर्मनिरपेक्ष हैं। फ़र्क़ अगर पड़ता है, या पड़ सकता है, तो सिर्फ इस बात से कि बहुसंख्य धर्मनिरपेक्ष हिन्दुओं या मुसलमानों ने पाले के उस ओर बैठे हुओं को समझाने, मनाने और अपनी ओर लाने की कितनी कोशिश की है।

यह कहना या मानना ग़लत और बेमानी है कि हमारे देश में साम्प्रदायिकता की जड़ें सात-आठ सौ साल पुरानी हैं। मंदिरों के तोड़े जाने या जज़िया लगाने में साम्प्रदायिकता की समस्या का मूल खोजना इतिहास को ग़लत दृष्टि से देखने की कोशिश है। आज मुरादाबाद या मेरठ या बडौदा में यदि साम्प्रदायिकता की आग भड़कती है तो उसके लिए कारण भी हमारे आज में ही कहीं छिपा हुआ है।

इसमें कोई शक नहीं कि अँग्रेज़ों ने फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हिन्दू और मुसलमान में अलगाव की एक दीवार खड़ी की थी। हम उनके जाल में फँस गए यह उनकी सफलता थी। पर यदि आज भी हम उस जाल से नहीं निकल पा रहे हैं, तो यह किसी और की सफलता नहीं, हमारी अपनी विफलता है।

हिन्दू और मुसलमान के बीच दूरी और अविश्वास बने और बढ़ता रहे, यह अँग्रेज़ों की ज़रूरत थी। उसी दौरान यह दूरी उनकी भी ज़रूरत बन गई, जिन्हें राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं ने हद दर्जे का स्वार्थी बना दिया था। पाकिस्तान का बनना ऐसे ही स्वार्थ का परिणाम है। आज पाकिस्तान का बनना एक ऐतिहासिक सत्य है। भौगोलिक भी। मोहम्मद अली जिन्ना या उनकी तरह के सोच वालों ने जिन मुसलमानों में असुरक्षा का डर पैदा कर दिया वे १९४७ में पाकिस्तान चले गए थे। यह दीगर बात है कि आज पाकिस्तान में वे उससे कहीं ज़्यादा असुरक्षित हैं, जितना वे ४० साल पहले सरहद के इस पार अपने आपको समझते थे। पर जो नहीं गए, अर्थात जो अपने आपको असुरक्षित महसूस नहीं करते थे, आज फिर उनके मन में असुरक्षा की एक भावना पैदा करने की कोशिश

की जा रही है। यह कोशिश फिर वही तबका कर रहा है, जिसे हर आग में अपनी रोटी सेंकनी होती है।

असुरक्षा की इस भावना के पीछे वह अलगाव है, जो पिछले चालीस सालों से लगातार बना हुआ है। और इस अलगाव का सबसे बड़ा कारण वह राजनीति है, जो ऐसी भावनाओं को हवा देने से ही पनपती है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि धर्म इस देश में वोट पाने या वोट देने का आधार बन गया। और इसके लिए किसी मुस्लिम लीग को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इसका सबसे बड़ा दायित्व उस कांग्रेस पार्टी पर आता है, जो तीन साल के जनता पार्टी के शासनकाल को छोड़कर, लगातार इस मुल्क पर राज कर रही है। मुस्लिम बहुल इलाक़ों में मुसलमानों को ही उम्मीदवार बनाने का सोच ही हमारी धर्मनिरपेक्षता, हमारे लोकतंत्र और हमारे संविधान पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। इस सोच को बढ़ावा देने का अपराध कांग्रेस ने किया, पर इस सोच को सफल बनाने के लिए वह हर नागरिक--चाहे वो हिन्दू हो या मुसलमान--दोषी है, जिसने वोट को हिन्दू या मुसलमान में बाँटने की साझीदारी की है।

धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का बनना या पनपना हमारी दूसरी विफलता है। राजनीति को धर्म की बैसाखी देने की बात सोचना ही उस ग़लती की शुरुआत है, जिसका शिकार हम लगातार बन रहे हैं। धर्म एक वैयक्तिक ज़रूरत है, जबकि राजनीति एक सामूहिक दायित्व। इन दोनों में से किसी को भी एक-दूसरे के सहारे की ज़रूरत नहीं है। अलबत्ता, वे ज़रूर धर्म या राजनीति का सहारा लेंगे, जो किसी शार्टकट से अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं।

बाबरी मस्जिद या राम जन्मभूमि के नाम पर राजनीति करने वालों को धर्म और साम्प्रदायिकता का अंतर समझाया जाना भी ज़रूरी है। धार्मिक होने का मतलब साम्प्रदायिक होना नहीं हुआ करता। महात्मा गाँधी धार्मिक व्यक्ति होते हुए भी असाम्प्रदायिक थे और जिन्ना घोर अधार्मिक होने के बावजूद साम्प्रदायिक थे। वस्तुतः मैं हिन्दू हूँ या मैं मुसलमान हूँ, यह तथ्य साम्प्रदायिकता पैदा नहीं करता। साम्प्रदायिकता पैदा करती है यह भावना कि वह हिन्दू है या वह मुसलमान है। ज़रूरत यह अहसास पैदा करने की है कि वह अपने को तो हिन्दू या मुसलमान या सिख या ईसाई माने और समझे, पर दूसरों को इस दृष्टि से न देखे। तब किसी को किसी से शिकायत नहीं होगी। ऐसी शिकायत सिर्फ़ तब तक होती है, जब तक हम किसी दूसरे के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्धारण उसके मनुष्य होने के बजाए, उसके हिन्दू या मुस्लिम या सिख होने के आधार पर करते रहते हैं।

सवाल उठता है, हम ऐसा क्यों करते हैं ?

इसके दो कारण हैं : पहला तो राजनीतिक और दूसरा पंडों और मौलवियों के वैयक्तिक स्वार्थ। चर्च को आधार बनाकर चलने वाली राजनीति ने हमारे धर्मनिरपेक्ष संविधान की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी हैं और पंडों और मौलवियों की कारस्तानी से समता का हमारा आदर्श मिट्टी में मिल गया है। एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक जैसे शब्दों का प्रचलन एक घटिया और ख़तरनाक राजनीति है।

इस राजनीति ने एक ऐसे धार्मिक उन्माद को हवा दी है, जो साम्प्रदायिकता की आग को लगातार फैला रही है। यही धार्मिक उन्माद मौलाना बुखारियों या बाल ठाकरों को जन्म देता, उन्हें परवान चढ़ाता है। इसलिए सबसे पहली ज़रूरत इस राजनीति पर हमला करने की है।

दूसरी ज़रूरत उस प्रवृत्ति को ख़त्म करने की है, जो ख़ुद को दूसरे से बेहतर समझने के कारण बनती है। वस्तुतः वे सब धर्म के दुश्मन हैं, जो किसी धर्म-विशेष को दूसरे धर्म से बेहतर समझते या समझाते हैं। मैं ऐसे हर मुल्ला या पंडित को अधार्मिक ही नहीं, धर्म का हत्यारा कहना पसंद करूँगा। पर विडंबना यह है कि हमारे देश में ऐसे लोग पूजे जा रहे हैं।

तीसरी ज़रूरत उस खाई को पाटने की है जो इस दौरान लगातार चौड़ी हुई है।

यह एक मुश्किल काम है।

यह निहायत ज़रूरी भी है।

इसके लिए पहले तो इस ख़याल को दिल से निकालना होगा कि महज़ हिन्दू या मुसलमान होने से ही कोई आदमी क्रमशः राष्ट्रभक्त या राष्ट्रद्रोही हो जाता है। जब तक इस देश में मुसलमान को हर रोज़ अपनी राष्ट्रभक्ति का प्रमाण देने की ज़रूरत महसूस कराई जाती रहेगी, तब तक अलगाव कम नहीं हो सकता। जब तक मुसलमान को धार्मिक अल्पसंख्यक होने का अहसास बना रहेगा और इसके फ़ायदे मिलते रहेंगे, तब तक वह पुल नहीं बन सकता, जो किनारों की दूरी ख़त्म करता है। मतलब यह कि ऐसी स्थिति बनानी ज़रूरी है कि साम्प्रदायिक होने का राजनीतिक लाभ कोई न उठा सके।

लेकिन यह कौन करेगा। कौन लड़ेगा साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ इस ज़रूरी लड़ाई को ? निश्चित रूप से स्वार्थी राजनीति और संकुचित धार्मिकता

का लाभ उठाने वाला कोई नेता यह लड़ाई नहीं लड़ना चाहेगा। यह लड़ाई तो उस हिन्दू या मुसलमान को लडनी होगी जो लगातार साम्प्रदायिकता का शिकार हो रहा है। यानी आप और मैं। यानी हम सब।

हममें से हर एक को फ़िरकापरस्त ताकतों के ख़िलाफ़ जिहाद छेड़ना होगा। यदि मैं और आप आज यह तय कर लेते हैं कि हम साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वालों का समर्थन नहीं करेंगे या धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता फैलाने वालों की बात नहीं सुनेंगे, तो अलगाव के तम्बू नहीं तन पाएँगे। तब हमें सिवैंयों का स्वाद भी याद रहेगा और खील-बताशों की मिठास भी। तब हम इस बात को भी नहीं भूलेंगे कि झंडों के रंग भले ही अलग-अलग हों, ख़ून का रंग सिर्फ़ एक होता है।



मनुष्यता का अमृत

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म विहीनता नहीं है और न ही धर्म की उपेक्षा। जीवन का यह सिद्धांत धर्म को पूरी प्रतिष्ठा और सम्मान देता है लेकिन इसके साथ ही सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहार में इसे किसी बेड़ी के रूप में स्वीकार नहीं करता। इसे सहनशीलता के अर्थों में समझना भी ग़लत होगा। क्योंकि यदि हम इसे इन अर्थों में पारिभाषित करना चाहेंगे तो कहीं न कहीं जवाबी हमला न कर पाने की अक्षमता से जुड़ जाएगा यह। और यह ग़लत होगा। धर्मनिरपेक्षता न किसी तरह की अक्षमता है और न ही जीवन का कोई नकारात्मक सिद्धांत। यह जान-बूझकर स्वीकार की गई वह जीवन-प्रणाली है, जिसमें अपने धर्म का पालन करते हुए भी किसी अन्य धर्म के प्रति द्वेष की भावना नहीं होती। तीन शब्दों में यदि इसे परिभाषित करना हो तो हम कह सकते हैं सर्वधर्म सम भाव। यह सब धर्मों की अवहेलना नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है, यह मानते हुए अन्य धर्मों को मान्यता देना कि उनमें भी वे गुण हैं जो जीवन को परिचालित कर सकते हैं।

पता नहीं क्यों जीवन की इस पद्धति को पाश्चात्य सोच और पाश्चात्य सभ्यता से जोड़ दिया गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि धर्मनिरपेक्षता हिन्दुत्व के भीतर ही एक संस्कृति के रूप में पली-बढ़ी है। गुरुनानक, कबीर, विवेकानंद, रामलिंगार, नामदेव सबने धर्म के सहअस्तित्व की इसी जीवन-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। यह हमारी संस्कृति भी है और सभ्यता भी। और विविधता में एकता की जिस बात को हम अपनी विशेषता के रूप में देखते-दिखाते हैं, उसका ही एक ठोस उदाहरण है हमारी धर्मनिरपेक्षता।

धर्म के नाम पर इस देश का विभाजन हुआ था, यह सही है। पर भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र घोषित करके हमने यह भी बता दिया था कि हम धर्म को भूगोल की सीमाओं में बाँधने की विवशता या विशेषता में विश्वास नहीं करते। अपने संविधान की प्रस्तावना में ही हमने भारत को एक ऐसे सार्वभौम राष्ट्र

के रूप में देखा है, जिसमें धर्म का संबंध शासन से नहीं, व्यक्ति से होगा। किसी एक धर्म के विधि-विधान न शासन को परिचालित करेंगे और न ही सीमित बनाएँगे। शासन सब धर्मों को समान रूप से सम्मान देगा। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई या सिख होना न किसी के लिए कोई विशेषाधिकार होगा और न ही इनमें से किसी एक धर्म से जुड़े होने का मतलब कोई सीमा या कमी मानी जाएगी। शासन न किसी धर्म को बढ़ावा देगा न किसी धर्म की उपेक्षा करेगा।

यह सांविधानिक व्यवस्था हमने अपने लिए स्वीकार की थी, पर इसका अर्थ केवल शासन की सीमाओं तक सीमित नहीं था। वस्तुतः यह एक जीवन व्यवस्था है, जिसे हमने अंगीकार किया। सर्वे भवंतु सुखिनः से उद्भूत यह जीवन व्यवस्था एक ऐसी संस्कृति है जिसमें हमारे बीते हुए कल का विश्वास था और जो हमारे आज की आवश्यकता है। यह बात हमारे संविधान-निर्माताओं ने लगभग आधी सदी पहले स्वीकार कर ली थी, पर स्वतंत्र भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म-निरपेक्षता को हमने एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार तो किया, पर अपने जीवन को इस सिद्धांत के अनुरूप परिचालित करना हमें अभी तक स्वीकार नहीं है। देश के अलग-अलग हिस्सों में जब-तब भड़क उठने वाले सांप्रदायिक दंगे इस बात का प्रमाण हैं कि हमने धर्म को जीवन के उच्च शिखरों तक पहुँचने का माध्यम नहीं माना, बस उन घाटियों में विचरने का साधन बना लिया, जहाँ प्रकाश का सिर्फ आभास मात्र होता है। धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में शासन-व्यवस्था और जीवन-व्यवस्था के इसी टकराव का एक प्रमाण है वह साम्प्रदायिकता, जो ज़हरीले फोड़े के मवाद की तरह हमारे राष्ट्र-राज्य के शरीर पर बिखर जाती है।

लेकिन क्यों हो रहा है यह टकराव ? उत्तर के लिए बहुत दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। इसका उत्तर हमारे भीतर है। उत्तर यह है कि हम धार्मिक होने का ढोंग रचते हैं, धर्म का अर्थ नहीं समझते।

हमने धर्म को शब्दों, शास्त्रों, क्रिया-कांडों का पर्याय बना दिया, जबकि इसका रिश्ता अंतरात्मा से होता है। यह तो चेतना की प्रज्वलित अग्नि है, जो किसी मंदिर, मस्जिद या गुरुद्वारे में नहीं, हमारे भीतर जलनी चाहिए। चेतना की यह प्रज्वलित अग्नि हमें न केवल अपने आपसे परिचित कराती है, बल्कि हमें यह अहसास भी कराती है कि व्यक्ति समाज का एक हिस्सा है और धर्म व्यक्ति और समष्टि के बीच प्रेम की एक प्रतीति। जब हम हिन्दुत्व की बात करते हैं तो हमारा आशय इसी प्रतीति से होना चाहिए, इस्लाम या ईसाइयत की बात करते समय भी यही प्रतीति हमारे समक्ष होनी चाहिए। पर अकसर ऐसा होता नहीं है।

हम इस प्रतीति के बजाए बाहरी रूप-लक्षणों को धर्म का पर्याय मान लेते हैं और धर्म पर गर्व करने के बजाए उस सीमित सम्प्रदाय को अभिमान की वस्तु बना लेते हैं जो सदियों से आपसी कलह का एक माध्यम बना हुआ है। धर्म दूसरे को सहारा देकर मनुष्यता की सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ने का नाम है और सम्प्रदाय उस केकड़ा-वृत्ति का जो किसी दूसरे को ऊपर नहीं चढ़ने देती। धर्म को इसी संकुचित दृष्टि से देखने का यह परिणाम है कि आज हमारे धर्म-स्थानों से प्रेम और प्रार्थना के स्वरों के बजाए घृणा और वैमनस्य का धुआँ उठता है। हमारी त्रासदी यह भी है *कि यह धुआँ अब हमें रास आने लगा है। यही धुआँ किसी महावीर पर पत्थर* फेंकने का कारण बनता है और कभी किसी बुद्ध को अपमानित करने का। यही वह धुआँ है जिसने कल किसी ईसा को सूली पर चढ़ाया था और जो आज धर्म के नाम पर हिन्दू और मुसलमान को मनुष्य नहीं रहने देता। धर्म के नाम पर लड़ते हैं दोनों, जबकि हकीकत यह है कि कोई धर्म लड़ने की शिक्षा नहीं देता। धर्म के नाम पर न जाने कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं और क्योंकि लड़ाई धर्म के नाम पर होती है तो उस ग्लानि का अहसास भी नहीं होता जो लड़ते समय होनी चाहिए। उल्टे, धर्म के नाम पर लड़कर आदमी गौरवान्वित होने का भ्रम पाल लेता है और बहाने खोजता है ऐसी लड़ाई लड़ने के। कभी हिन्दू धर्म ख़तरे में पड़ जाता है और लड़ाई शुरू हो जाती है और कभी इस्लाम की रक्षा के नाम पर। लड़ने वाले यह भी भूल जाते हैं कि धर्म उनकी रक्षा के लिए होता है। वे धर्म की क्या रक्षा करेंगे ? और जो धर्म इतना कमज़ोर हो कि उसकी रक्षा करने की ज़रूरत पड़े तो वह और कुछ भी हो सकता है, धर्म नहीं हो सकता।

जब हम धर्म के नाम पर लड़ते हैं तो यह भी भूल जाते हैं कि ऐसा करके हम उसी का अहित कर रहे हैं, जिसके नाम पर हमने सम्प्रदायों के महल खड़े किए हैं। जब कोई मंदिर जलता है तब भी ईश्वर जलता है और जब कोई मस्जिद जलती है तब भी ईश्वर ही जलता है। ईश्वर और ख़ुदा में भेद करके किसी धर्म को नहीं समझा जा सकता है। हाँ, साम्प्रदायिकता को ज़रूर समझ सकते हैं ऐसा करके। पर साम्प्रदायिकता धार्मिकता नहीं होती। धर्म श्रेष्ठतम से जुड़ने का *राजमार्ग है और साम्प्रदायिकता वह अंधी गली जो कहीं नहीं पहुँचाती।*

हमारी लड़ाई इसी साम्प्रदायिकता से है, जो हमें मनुष्यता के ऊँचे आसन से गिराकर छोटी-छोटी जमातों के लेबल लगा देती है हम पर। धर्मनिरपेक्षता इन बाँटने वाले लेबलों को हटाने की एक सार्थक कोशिश का नाम है। धर्मनिरपेक्षता हमें सिखाती है कि पूजा-आराधना के भिन्न-भिन्न तरीक़े मनुष्य को बाँटने का कारण नहीं बनने चाहिए। धर्मनिरपेक्षता यह भी सिखाती

है कि हम हिन्दू या मुसलमान या सिख या ईसाई होने के साथ-साथ आदमी भी हो सकते हैं। और जब हम यह अहसास करने लगेंगे कि हमारा धर्म चाहे कोई भी हो, हमारी पूजा-आराधना का तरीका चाहे कुछ भी हो, हम मूलतः और अंततः मनुष्य हैं तो न हमारा कोई धर्म संकट में पड़ेगा और न ही धर्म की रक्षा का भ्रम पालकर हमें 'शहीद' होने की आवश्यकता पड़ेगी। आदमी को धर्म के नाम पर बाँटने के बजाए इंसानियत के नाम पर जोड़ना कल भी ज़रूरी था, आज भी ज़रूरी है और आने वाले कल में भी ज़रूरी रहेगा। इंसानियत के नाम पर जुड़ने या जोड़ने की यह भावना व्यक्ति के भीतर से उठनी चाहिए। जब तक हम भीतर से जागृत नहीं होंगे, मनुष्य-विरोधी ताकतों से हारते ही रहेंगे। धर्म के नाम पर लड़ते रहेंगे। हिन्दू और मुसलमान के नाम पर एक-दूसरे को मारते रहेंगे और यह अहसास कभी नहीं करेंगे कि लाश जो गिरी है, वह किसी हिन्दू या मुसलमान की नहीं, हमारी अपनी है।

मनुष्य होने का यह अहसास किसी भी व्यक्ति, किसी भी समाज, किसी भी राष्ट्र के अस्तित्व की शर्त है। इसीलिए धर्मनिरपेक्षता को जीवन-दृष्टि और जीवन-प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाना ज़रूरी है। अपने धर्म पर गर्व करना ग़लत नहीं है, लेकिन अपने आपको सिर्फ़ हिन्दू या मुसलमान समझना ग़लत है। हम हिन्दू या मुसलमान होने के साथ-साथ मनुष्य भी हैं। यह अहसास हम जब-जब भूले हैं, लड़े हैं, मरे हैं, हारे हैं। हम लड़ें नहीं, मिल-जुलकर रहें, मरें नहीं, जिएँ। हारें नहीं, जीतें इसके लिए ज़रूरी है हम साम्प्रदायिकता के ज़हर से उबरें, मनुष्यता के अमृत की वर्षा में नहाएँ।



एक अनवरत संघर्ष

यह एक कडवा सत्य है कि हमारे देश में किसी का भारतीय होना अकसर उसके हिन्दू या मुसलमान या सिख या ईसाई होने के नीचे दब जाता है। मैं भारतीय हूँ, कहने से पहले अकसर हमारी ज़ुबान बोल उठती है, मैं राजस्थानी हूँ या मैं तमिल हूँ या मैं बंगाली हूँ। धर्म, जाति, वर्ग और वर्ग में बँट जाती है हमारी भारतीयता। अकसर भारतीय होने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है हमारा किसी क्षेत्र विशेष का होना। असम हो पंजाब या बंगाल, सब जगह हमारी राष्ट्रीयता दाँव पर लगी है।

पंजाब में सिख और हिन्दू लड रहे हैं। बंगाल में गोरखालैंड की माँग उठ रही है। तमिलनाडु हिन्दी के सवाल पर जब-तब भड़क उठता है। जहाँ शांति दिख भी रही है, वहाँ भी आशंकाओं के बादल हैं। पता नहीं कब फट पड़ें। आख़िर क्यों है ऐसी स्थिति ? जो कुछ भी व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ता है, वह हमें क्यों बाँट रहा है ? सर्वे भवन्तु सुखिनः के दर्शन में विश्वास करने वाले हम धर्म के नाम पर एक-दूसरे का गला काटने के लिए कैसे तैयार हो जाते हैं ? एक-दूसरे से संपर्क के लिए और एक-दूसरे तक अपनी बात पहुँचाने के लिए बनी भाषा पुल बनने के बजाए खाई क्यों बन जाती है ?

इतने सारे सवाल। और जवाब ?

जवाब हमें खोजना ही होगा, क्योंकि इसके साथ हमारे राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व का सवाल जुडा है।

धर्मों, जातियों और भाषाओं में बँटे इतने बड़े राष्ट्र को एक बनाए रखना हमारी सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती को आज़ादी की लड़ाई के दौरान भी हमारे नेताओं ने समझा था और आज़ादी पा लेने के बाद भी धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को अपनाकर हमने जुड़े रहने की एक स्थिति तैयार की थी। यह एक तथ्य है कि कोई समाज जितना अधिक विभाजित होगा, उतनी ही ज़्यादा आवश्यकता होती है धर्मनिरपेक्ष दर्शन की जो पूरे समाज का दर्शन बने। यह

दर्शन विभिन्न धर्मो के विभिन्न विचारों की बुनियादी एकता को रेखांकित करता है, इसलिए यह एक जोड़ने वाली ताक़त है। इसके विपरीत साम्प्रदायिकता बाँटने वाली ताक़त का नाम है। इसलिए धर्मनिरपेक्षता हमारी ज़रूरत भी है और एकमात्र विकल्प भी। विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ एक जटिल समाज है हमारा। इसे धर्मनिरपेक्षता की सीमेंट से ही एक बनाकर रखा जा सकता है। विविधता में एकता का मतलब भी यही है हमारे लिए।

यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि एकता की इस शर्त को पहचानने के बावजूद हमारी राजनीति कभी धर्मों पर आधारित रही, कभी क्षेत्रीयता पर और कभी जातियों पर। और कभी ये तीनों चीज़ें मिलकर हमारी राजनीति का आधार बनीं। और इस सबके चलते आज जो चित्र बनता है हमारे देश का, उसे देखकर ऐसा लगता है कि एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के बजाए हमारा देश ऐसे धार्मिक समूहों का एक महासंघ है, जो लगातार आपस में लड़ते रहते हैं। ऐसा हर समूह वे सब सुविधाएँ हथियाने की लगातार कोशिश कर रहा है, जो वह दूसरे समूहों को नहीं देना चाहता।

सच बात तो यह है कि हम धर्मनिरपेक्षता को सही अर्थों में समझ ही नहीं पा रहे—या फिर समझना चाहते नहीं हैं और इसके लिए बड़ा उत्तरदायित्व उन राजनीतिक दलों का है, जो अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए इस सिद्धांत को दरकिनार रखते रहे हैं। जनसंघ या भाजपा या मुस्लिम लीग या हिन्दू महासभा आदि की बात मैं नहीं कर रहा। कांग्रेस जैसा दल भी साम्प्रदायिकता के इस ऋणात्मक लाभ के लिए हमेशा लालायित रहा है। केरल में मुस्लिम लीग को फिर से ज़िंदा करने और पंजाब में भिंडरावाले को एक ताक़त बनाने जैसी बातें तो प्रत्यक्ष दिखती हैं, पर इससे कहीं अधिक ख़तरनाक खेल वह है जो कांग्रेस समेत लगभग सभी राजनीतिक दल खुलेआम खेलते हैं। वोट को हिन्दू या मुस्लिम वोट में बदलने का काम हमारे राजनीतिक दलों ने किया है। धर्मों या जातियों को वोट बैंक की तरह काम में लेने के लालच से हमारे राजनीतिक दल बच नहीं पा रहे। पर यदि एक राष्ट्र के रूप में हमें ज़िंदा रहना है तो इस लालच से बचना ज़रूरी है।

जहाँ सत्ताधारी दल के लिए ज़रूरी है कि वह सत्ता को पाने या सत्ता में बने रहने के लिए धर्म का सहारा न ले, वहीं बाकी राजनीतिक दलों को भी अपने आचरण से यह दिखाना होगा कि वे धर्म की बैसाखी के सहारे राजनीति का खेल नहीं खेलेंगे।

धर्मनिरपेक्षता का अर्थ न तो धर्महीनता है और न ही मात्र सर्वधर्म समभाव। धर्म-निरपेक्ष भारत में धर्म एक निजी चीज़ होना चाहिए, जिसका राजनीति से कोई सरोकार न हो, जिसका राजनीति पर कोई असर न हो। और यही बात हमारे वैयक्तिक आचरण पर भी लागू होनी चाहिए।

धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीय भावनाओं से ऊपर उठकर ही हम राष्ट्रीयता की बात सोच सकते हैं। सच पूछा जाए तो हमारे भारत की समस्याओं का सही हल उस राष्ट्रीयता की भावना का पनपना ही है, जो हमें हिन्दू या मुसलमान या सिख के बजाए भारतीय बनाए। भारत के संदर्भों में धर्मनिरपेक्षता का मतलब बाँटने वाली सारी ताक़तों के ख़िलाफ़ लडाई है। बाँटने वाली ताकतों के खिलाफ़ लड़ाई का मतलब है जोड़ने वाली ताकतों के लिए लड़ना। यह एक ऐसी लड़ाई है जो निरंतर चलती रहनी चाहिए और इस लड़ाई में निरंतर जीतते रहना ही एक राष्ट्र के रूप में हमारे अस्तित्व की सबसे बड़ी और सबसे कडी शर्त है।



बोधगया के ख़तरे

अब तक हम मंदिर-मस्जिद के विवाद से उबर नहीं पाए हैं और एक नया विवाद शुरू हो गया है मंदिर और मंदिर के बीच ! यह विवाद बोधगया में चल रहा है। विवाद एक ऐसे मंदिर को लेकर है, जहाँ भगवान बुद्ध की मूर्ति भी है और शिवलिंग भी। इसी स्थल पर पाँच पांडवों की मूर्तियाँ भी हैं, जिन्हें अब बौद्ध भगवान बुद्ध की पाँच भंगिमाएँ बता रहे हैं। अब तक इस मंदिर में बौद्ध और वैष्णव दोनों पूजा करते रहे हैं। पूजन की विधि में भले ही अंतर हो, पर बौद्धों के भगवान को वैष्णव विष्णु के अवतार के रूप में पूजते हैं। चालीस-पचास साल पहले भी इस संदर्भ में कुछ विवाद उठा था। तब यानी १९४९ में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद द्वारा तैयार किए गए एक फ़ार्मूले के अनुसार इस मंदिर के प्रबंध में बौद्धों को भी अधिकार दिया गया था। ज्ञातव्य है कि स्वामी विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे व्यक्तियों ने इस मंदिर को महंत के एकाधिकार से निकालने की माँग की थी और कांग्रेस और हिन्दू महासभा जैसे संगठनों ने बोधगया में हिन्दुओं और बौद्धों दोनों को उपासना की पूर्ण स्वतंत्रता देने वाले इस फार्मूले को स्वीकृति दी थी। तब से वहाँ पूजा-अर्चना की दोनों विधियाँ एक साथ जी रही हैं।

पिछली बुद्ध पूर्णिमा को जैसे अचानक एक बहते प्रवाह में अवरोध-सा आ गया। महाराष्ट्र के कुछ नवबौद्धों ने प्रदर्शन किया और माँग की कि बुद्ध के बोध प्राप्त होने से संबंधित इस मंदिर पर नियंत्रण का अधिकार सिर्फ उनको है, जो स्वयं को बौद्ध कहते हैं। हिन्दुओं और बौद्धों के बीच एक और लकीर खींचने की इस कोशिश को शायद आने वाला कल भुला देता, यदि बिहार सरकार ने बोधगया मंदिर कानून-१९४९ को निरस्त करने की कार्रवाई शुरू न कर दी होती। लालूप्रसाद यादव की सरकार इसे इतिहास की एक भूल सुधार की संज्ञा दे रही है। ऐसी ही एक भूल अयोध्या में 'सुधारी' जा रही है। यह कोई नहीं देखना चाह रहा कि 'सुधार' की इस प्रक्रिया में भूलों का अम्बार लगने लगा है। धर्म के नाम पर राजनीतिक हितों की रोटियाँ सेंकने वाले, यह भी भूल जाते

हैं कि धर्म बाँटने का नहीं, जोड़ने का माध्यम है। 'रथ-यात्रा' के बाद देश में जो कुछ हुआ था, वह हमारे आज का शर्मनाक इतिहास है और जो कुछ हुआ उसके परिणामों को हमारा आने वाला कल भुगतेगा।

हमारे कल को और क्या-क्या भुगतना है, इसका एक संकेत बोधगया में बौद्धों के कथित अधिकारों की रक्षा के नाम पर लालू-सरकार द्वारा उठाया जा रहा कदम देता है। १८ मई १९९२ की हिंसा से कुछ ही दिन पहले केंद्रीय मंत्री सीताराम केसरी ने भी घोषणा की थी कि तीन महीने के भीतर ही बोधगया का मंदिर बौद्धों को सौंप दिया जाएगा। हिन्दुओं का कहना है कि हम यह मंदिर बौद्धों को सौंपने नहीं देंगे। बिहार के मुख्यमंत्री 'कटिबद्ध' हैं कानून बनाकर यह काम करने के लिए। मतलब यह कि विवाद और गहराएगा। १८ मई को बोधगया में जो कुछ हुआ था, वह फिर दोहराया जाएगा। हिन्दुओं और बौद्धों के बीच और दीवारें खड़ी होंगी। देश का मानस और बिखरेगा।

सवाल यह नहीं है कि मंदिर बौद्धों का है या हिन्दुओं का। सवाल यह भी नहीं है कि मंदिर पर नियंत्रण किसका हो। सवाल यह है कि कोशिश इस बात की क्यों नहीं होती कि वह मंदिर हिन्दुओं और बौद्धों का साझा मंदिर बना रहे ? और सवाल यह भी है कि हिन्दुओं या बौद्धों को अपने भगवान के प्रति दूसरों की श्रद्धा-भक्ति देखकर ख़ुशी क्यों नहीं होती ?

इन सवालों के उत्तर राजनीति के गलियारे से होकर गुजरते हैं। लालूप्रसाद यादव या सीताराम केसरी की बौद्धों के प्रति उमड़ी ममता के पीछे दलित-नवबौद्धों की चुनावी ताक़त को हथियाने के सपने हैं। और ये सपने एक ताक़तवर भारत के सपनों से टकरा रहे हैं। यह सही है कि राजेन्द्रप्रसाद फार्मूले के अंतर्गत भी हिन्दू ज़िलाधीश का निर्णायक मत देकर मंदिर की व्यवस्था में हिन्दुओं का हाथ ऊपर रहने दिया गया था। पर एक साझी व्यवस्था में यह मंदिर चल रहा था, इस सचाई के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और इसको अनदेखा भी नहीं किया जा सकता।

हमारा भारत हिन्दुओं, बौद्धों, जैनियों, सिखों, मुसलमानों, ईसाइयों का साझा भारत है। यह इसकी कमजोरी नहीं, इसकी ताक़त है। जरूरत इस ताक़त को मजबूत बनाने की है, साझेपन की महत्ता को समझने-स्वीकारने की है। और यही हमें समझने नहीं दिया जा रहा। अयोध्या और बोधगया में जो कुछ किया जा रहा है, वह इस साझेपन की ताकत को कमज़ोर करने की कोशिश ही कहा जा सकता है।

बम्बई में एक छोटा-सा उपासना-स्थल है, जहाँ हिन्दू, ईसाई और मुसलमान तीनों अपने-अपने ढंग से आराधना करते हैं। यदि बम्बई में ऐसा हो सकता है तो अयोध्या और बोधगया में क्यों नहीं? इस प्रश्न पर हममें से हर एक को सोचना होगा। हिन्दू वोट और बौद्ध वोट के कार्ड आकर्षक भले ही दिख रहे हों, पर ये हमारी साझी संस्कृति और साझी विरासत की जड़ें कमज़ोर करने वाले कार्ड हैं। यह बात वोटों की राजनीति करने वाले नेताओं को समझ में नहीं आएगी—वे समझना चाहेंगे भी नहीं। पर वोट डालने वाले मतदाता को यह बात समझ में आनी चाहिए। और उसे ही यह बात समझ आ सकती है।

यदि बोधगया का महंत बौद्धों की पूजा-अर्चना में बाधक है तो उसे हटाया ही जाना चाहिए। पर बात इतनी ही नहीं है। बात सह-अस्तित्व की एक व्यवस्था को समाप्त करने की भी है। यह ग़लत है। हिन्दुओं और बौद्धों को एक-दूसरे के साथ रहना सीखना होगा। खोते-खोते हम बहुत कुछ खो चुके हैं। अब जितना, जो कुछ बचा है, उसे सहेजने-समेटने की बारी है। इस समेटने का रिश्ता हमारे अस्तित्व से है। हमारे अस्तित्व पर संकट लाने का अधिकार हम राजनीतिज्ञों को नहीं दे सकते। कोई लालू यादव अपने राजनीतिक स्वार्थों की ख़ातिर इस देश के हितों की बलि चढ़ाए, यह हमें स्वीकार नहीं होना चाहिए। यदि कानून बनाना ही है तो कुछ ऐसा कानून बनाया जाए, जो धर्म के नाम पर लड़ाने की कोशिशों को नाकामयाब करने में सहायक सिद्ध हो, विभिन्न धर्मावलम्बियों को साथ जीने की प्रेरणा दे। बोधगया में हिन्दू और बौद्ध साथ जीते आए हैं। आगे भी साथ ही जी सकते हैं। साथ जीना ही चाहिए उन्हें। किसी लालूप्रसाद को यदि कुछ करना है तो इस दिशा में करे।



वह गाड़ी कब चलेगी ?

नाम- कमर रिजवी । उम्र २४-२५ साल । पता- बरकत नगर, वडाला, बम्बई । कल तक एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में नौकरी करता था। बम्बई में हुए दंगों के बाद बेरोज़गार है। पूँजी के नाम पर उसके पास अब एम.कॉम. की डिग्री है, जिसे लेकर बम्बई आया था और जिसे लेकर भिलाई लौट गया। हाँ, कमर उन हज़ारों में शामिल था जो दंगों की मार और दहशत के शिकार होकर बम्बई से भागने पर मजबूर हो गए थे। वी.टी. स्टेशन पर खडी वह विशेष रेलगाड़ी उन सबको सपनों, अरमानों और उम्मीदों के साथ वहाँ ले जा रही थी जहाँ से वे रोज़ी-रोटी की तलाश में निकले थे। पर सब कमर नहीं थे । कमर पढा-लिखा था । उसके पास एम.कॉम. की डिग्री थी । अजीब-सा भरोसा था उसे अपनी डिग्री पर। कह रहा था, "यह डिग्री मैं जेब में लिए घूम रहा था । कोई मुझे मारने आता तो मैं उसे यह डिग्री दिखाकर कहता, देखो भाई, मैं पढ़ा-लिखा हूँ। "

"तुम्हें भरोसा था कि तुम्हारी डिग्री देखकर वे तुम्हें कुछ नहीं करेंगे ?"

इस सवाल के जवाब में वह कुछ नहीं बोला था। शायद बोल नहीं पाया था। बोल पाता तो शायद बोलता कि, "यह डिग्री मेरे पढे-लिखे होने का सबूत है। और कहता मैं यह चाहता हूँ कि पढ़ा-लिखा आदमी हैवान नहीं हो सकता। "

कमर रिजवी का यह अनकहा बयान बहुत कुछ कह देता है। कहता है कि पढ़े-लिखे आदमी से विवेकशील होने की उम्मीद की जानी चाहिए। कहता है कि ऐसा विवेकशील आदमी अपराधी नहीं हो सकता। कहता है कि यदि अपराधी नहीं है तो उसे सजा क्यों मिले ? कहता है कि कथित सजा देने वाले भी यदि पढे-लिखे हैं तो उन्हें भी विवेकशील होना चाहिए--ऐसे किसी विवेकशील व्यक्ति का हाथ किसी पर उठने से पहले यह सोचने के लिए थमना चाहिए कि मैं जो कर रहा हूँ, वह भी कहीं अपराध तो नहीं।

एक कथा है, लोग किसी व्यक्ति को उसके पापों की सज़ा देना चाहते थे। उन्होंने तय किया पत्थरों से मार डाला जाए इसे। तभी वहाँ एक साधु पुरुष पहुँचे। सारी बात सुनने के बाद उन्होंने कहा, सज़ा तो मिलनी चाहिए इस व्यक्ति को, पर इस पर पहला पत्थर वही फेंक सकता है, जिसने कभी कोई पाप न किया हो। भीड़ में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो पहला पत्थर फेंक पाता।

कमर रिजवी की अनकही बात की तरह ही यह छोटी-सी कथा भी बहुत कुछ कह रही है। कह रही है कि दूसरों के पाप देखने वालों को अपने गिरेबान में भी झाँककर देख लेना चाहिए। दूसरे को अपराधी या पापी घोषित करने से पहले उस परिभाषा के तराजू पर स्वयं को तोलना भी ज़रूरी होता है। यही हम नहीं करते। इसलिए किसी भी कमर रिजवी को आतंकित करने, मारने या रोज़ी-रोटी छीनकर भगाने को अपना कर्तव्य भी मान लेते हैं और अधिकार भी। जनवरी १९९३ के पहले सप्ताह में बम्बई में यही हुआ था। पाँच दिन में पाँच सौ से अधिक व्यक्तियों से जिंदा रहने का अधिकार उन लोगों ने छीन लिया था, जिन्हें स्वयं ऐसा कुछ करने का कोई अधिकार नहीं था।

लगभग आधी सदी पहले देश के विभाजन के समय विस्थापित कैसे रेलगाड़ियों में लदकर आए थे, यह सिर्फ सुना और पढ़ा ही था। उस दिन बम्बई के वी.टी. स्टेशन पर कमर रिजवी को लादकर ले जाने वाली उस 'स्पेशल गाड़ी' को देखकर खुशवंतसिंह के उपन्यास 'ट्रेन टू पाकिस्तान' की याद आने लगी थी। इस गाड़ी में ठुसे कमर रिजवियों का अपराध यह था कि वे रोज़ी-रोटी की तलाश में एक ऐसे शहर में आए थे जिसे लघु भारत कहते हैं, जो साझा संस्कृति का एक उदाहरण माना जाता है (या था ?) जहाँ अवसर की कमी नहीं है। इनमें से कई कमर रिजवी तो २५-३० साल से इस शहर में रह रहे थे। उन्हें अब याद भी नहीं कि जहाँ वे 'लौट' रहे हैं, उस जगह को कैसा छोडकर आए थे। इनके बेटे-पोते यहीं इसी बम्बई में जन्मे-पले। पर धार्मिक-उन्माद की आँधी ने इन्हें एक ही झटके में 'वो लोग' बना दिया। पता नहीं कौन हैं जो दंगे करते या कराते हैं, पर इस बार के दंगों में बम्बई में जो पाँच सौ लोग मारे गए उनमें से अधिकांश न देशद्रोही थे न गुण्डे। और जो स्पेशल गाडियों में लदकर बम्बई से भागे हैं, उन्हें कोई किस आधार पर अपराधी करार दे सकता है ? और रशीदा तीन दिन की बच्ची ?

जी हाँ, भागने वालों में रशीदा का परिवार भी था। उसकी गोद में तीन

दिन की बच्ची थी। और वे लोग अस्पताल से सीधे वी.टी. स्टेशन आ गए थे। बम्बई को नरक बनाने के ज़िम्मेदार क्या बताएँगे कि उस तीन दिन की बच्ची का क्या अपराध था ? यही कि उसने एक मुसलमान माँ की कोख से जन्म लिया था ? यही कि उसका पिता भी उनमें से एक था जिन्हें कुछ लोग उनकी हैसियत बता देना चाहते थे ?

कमर रिजवी की गाड़ी में एक गुलाम अहमद भी था। दस साल से बम्बई में रह रहा था। मुर्गी बेचने का धंधा करता था। घर नाम की कोई चीज़ यहाँ उसके पास कभी नहीं रही, इसलिए जब उससे यह पूछा गया कि घर छोड़कर जा रहे हो, तो वह टुकुर- टुकुर देखता रहा था। उसकी आँखों में एक अजीब तरह की दहशत थी। जो कुछ देखकर-भुगतकर वह भागा था, उसके बारे में कुछ नहीं बोलना चाहता था। "बस, जा रहा साब..." बार-बार यही कह रहा था वह।

कब लौटोगे ?

"अब यहाँ क्या लौटूँगा साब क्या बच गया है यहाँ," उसने एक पराजित मुस्कान के साथ कहा था। उसके शब्दों में कोई तल्खी नहीं थी। कोई भाव नहीं। सिर्फ एक वक्तव्य था—शब्दों का एक समूह। ठंडे शब्द, ठंडा अर्थ— अब यहाँ क्या रह गया है !

सच, बहुत कुछ खोया था बम्बई ने उन पाँच-छः दिनो में। बहुत कुछ। और यह बहुत कुछ बहुत माने रखता है। एक अर्थ तो यह है उसका कि इन दंगों में मनुष्यता शहीद हुई थी। यदि ऐसा न होता तो कमर रिजवी की उस गाड़ी में रशीदा के परिवार के साथ-साथ रामलखन का परिवार भी न होता। रामलखन भी रोज़ी-रोटी के लिए बम्बई आया था। हारकर लौट रहा था। "अब क्या लौटूँगा... देखेंगे...अभी तो जा रहे हैं..." ऐसे ही कुछ शब्द निकल रहे थे उसके मुँह से। और फिर जब उसने ऊपर की ओर इशारा करते हुए यह कहा कि राम भली करेंगे तो अचानक मेरी निगाह डिब्बे के बाहर लगे देवी-देवताओं के चित्रों की ओर चली गई थी। राम, कृष्ण, हनुमान, दुर्गा आदि के चित्र चिपके हुए थे। शायद यह डिब्बा कभी किसी ऐसी विशेष गाडी में जुड़ा होगा, जो तीर्थ-यात्रा के लिए निकली थी। आज उस डिब्बे में बैठे रामलखन या रिजवी या रशीदा ने इन चित्रों को शायद देखा भी नहीं होगा। उन्हें सुध ही कहाँ थी यह देखने की। और मैंने उन चित्रों को देखकर कहा था, "हाँ, राम भली करेंगे।"

मैं रिजवी के लिए भी यही दुआ कर रहा था। इस विश्वास के साथ कि

मेरी दुआ उस डिग्री से अधिक कारगर साबित होगी जिसे वह भोला युवक ढाल की तरह इस्तेमाल करना चाहता था। जब वह गाड़ी चली तो मैं यह मना रहा था कि रिजवी अपनी वह डिग्री लेकर फिर कभी बम्बई न लौटे। रिजवी को भिलाई जाना था। वह गाड़ी गोरखपुर जा रही थी। पर रिजवी उस गाड़ी में बैठ गया था...

शायद हम सब भी ऐसी ही किसी गाड़ी में बैठे हुए हैं। जो जहाँ जा रहा है, वहाँ हमें जाना नहीं है और जहाँ हमें जाना है, वहाँ के लिए कोई विशेष गाड़ी हम चला नहीं पा रहे या चलाना नहीं चाहते। पर ऐसी गाड़ी चलनी चाहिए, जिसमें बैठकर कोई रिजवी वहाँ पहुँच सके, जहाँ उसे जाना है।



धूप में अकेले क्यों बैठें हम ?

एक लड़का धूप में बैठा
उसका साथी कोई नहीं था,
उसको कहा उठोऽऽ
चारों तरफ देखो,
अपने दोस्त को ढूँढो !

यह गीत वे बच्चे गा रहे थे। सड़कों, प्लेटफ़ार्मों पर फिरने वाले आवारा बच्चे। एक युवक और एक युवती यह गीत गवा रहे थे। एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए गोले में घूम रहे थे सब। एक बच्चा बीच में बैठा था। उसी को दोस्त ढूँढ़ता होना है। जिसे वह दोस्त कहता है, फिर वह बच्चा घेरे के बीच जाकर बैठ जाता है। एक लड़का धूप में बैठा...सब गोल-गोल घूमते हुए गा रहे हैं। जब बीच में बैठे बच्चे को दोस्त ढूँढने के लिए कहा गया तो ५-७ साल का वह बच्चा घेरे में खड़े अपने साथियों को एक-एक करके देखता रहा। उनमें उसके साथ खेलने वाले, उसके साथ भीख माँगने वाले और प्लेटफ़ार्म पर बूट पॉलिश करके रोटी कमाने वाले बच्चे थे- पर उसे तो दोस्त ढूँढ़ना था...

और फिर उस ५-७ साल के बच्चे ने उनके साथ मिलकर खेलने-खिलाने के लिए आए युवक का हाथ थाम लिया। उसे वही दोस्त लगा। युवक ने बच्चे का गाल थपथपाया और मुस्कराकर घेरे के बीच में जाकर बैठ गया। खेल फिर शुरू हो गया—एक बच्चा धूप में बैठा...

और मुझे लगा धूप में वह युवक नहीं, मैं बैठा हूँ। यह धूप उन सवालों की थी जो अचानक मुझे घेरकर खड़े हो गए थे—साथ खेलने-खाने वाले उस छोटे बच्चे को अपने दोस्त क्यों नहीं लगे ? उस युवक में उसने क्या देखा कि दोस्त समझकर उसका हाथ थाम लिया ? और कुछ ऐसे

सवाल भी कि आवारा बच्चों को इस तरह का खेल खिलाकर वह युवक और युवती आखिर पाना क्या चाहते हैं ?

और ऐसे सवालों के जवाब ढूँढ़ते-ढूँढते पता नहीं कैसे यह सवाल उभर आया कि आख़िर हम दोस्त ढूँढ़ने के बजाए दोस्तों को नकारने में क्यों जुट जाते हैं ?

महात्मा गाँधी दलितों के पक्षधर थे, इस जानकारी के लिए किसी शोध की आवश्यकता नहीं है। परायी पीर को जानने वाले को वैष्णवजन मानने वाले उस महात्मा ने हरिजन बस्तियों में दिखावे के लिए जाकर रहना नहीं स्वीकारा था और न ही भंगी को हरिजन कहने के पीछे वोट बटोरने की कोई इच्छा उन्होंने पाल रखी थी। सामाजिक उत्थान को राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बनाकर महात्मा गाँधी ने इस देश को एक सपना दिया था। वह सपना पूरा करने की कोई कोशिश करने के बजाए हम गांधी को नकारने पर तुले हैं। चलो, नकार लो गाँधी को। उन्होंने जो किया जैसे किया उसे भी ग़लत सिद्ध कर लो, पर इस प्रक्रिया में एक दोस्त को खोने की क्या आवश्यकता है ? यदि कोई आज यह मानता है कि गाँधी ने भंगी को हरिजन नाम देकर उसका अहित किया तो बेहतर है उसके हित की कोई तरकीब खोजी जाए, इसके लिए पहले गाँधी को विस्थापित करने की क्या आवश्यकता है ?

गाँधी और आम्बेडकर में वैचारिक मतभेद थे, यह कोई नई बात नहीं है। लेकिन उन मतभेदों के बावजूद व्यापक सामाजिक और राष्ट्रीय हितों में उन दोनों को एक-दूसरे का विरोधी साबित करके हम दलितों का कौन-सा हित साधना चाहते हैं ? कल भी दलितों को गाँधी और आम्बेडकर दोनों की आवश्यकता थी और आज भी है। फिर दोस्तों को नकारने की यह प्रक्रिया क्यों ? कोई कांशीराम या मायावती किसी गाँधी को दलितों का शत्रु साबित करके क्या स्वार्थ साधना चाहता है ? किसी बड़ी लकीर को छोटा सिद्ध करने के लिए रबर की ज़रूरत क्यों महसूस होती है हमें ? उससे भी बड़ी लकीर खींचकर उसे छोटा साबित करने का मन क्यों नहीं बनता हमारा ? दोस्त खोजने के बजाए दोस्तों में दुश्मनी खोजने की आदत क्यों बनती जा रही है हमारी ? धूप में बैठे उस आवारा बच्चे जैसी हालत क्यों बनती जा रही है हमारी ? जिनके साथ हम खेलते-खाते हैं, जिनके साथ उठते-बैठते हैं, उनमें हमें कोई दोस्त क्यों नहीं दिखाई देता ? और यदि नहीं दिखाई देता तो इसमें कहीं नज़र का दोष भी तो हो सकता है, यह अहसास हमें कभी क्यों नहीं होता ?

जातियों, धर्मों, भाषाओं के आधार पर बाँट लिया है हमने अपने आपको और अपनी इस कार्रवाई के औचित्य को सिद्ध करने के लिए अकसर हम तर्क भी ढूँढ़ लेते हैं। फिर कभी हम सोचते भी नहीं कि हमारे तर्क कुतर्क भी हो सकते हैं। शक की एक दीवार से अपने आपको घेरकर पता नहीं किस सुरक्षा में जीना चाहते हैं हम। सुनसान सड़क पर साथ चल रहे अजनबी को हमने जब भी देखा है, शक की निगाहों से देखा है—कहीं झपट न पड़े हम पर। यह शक की निगाह दोस्त खोजने की निगाह क्यों नहीं बन सकती ? यह भी तो हो सकता है कि वह जो साथ-साथ चल रहा है और जो हमारी ही तरह शक की निगाहों से देख रहा है हमें, यही सोच रहा हो कि काश, बगल वाला मेरा हमदर्द हो। अकसर ऐसा ही होता है, पर हमारे अपने शक और कभी हमारे अपने-अपने अहं के हिमालय—हमें साथ चलने वाले को दोस्ती और अपनेपन की निगाहों से देखने नहीं देते।

उस दिन वे आवारा बच्चे, जो गोल-गोल घेरे में घूमकर अपने दोस्त को ढूँढ़ने का खेल खेल रहे थे और उस एक बच्चे को अपने साथ खेलने-खाने वालों के बजाए खेल खिलाने के लिए आये। युवक की आँखों में से झाँकता दोस्त दिखा था, उसका संकेत यही तो है कि कोई अपरिचित भी हमारा दोस्त हो सकता है। एक संकेत और दिखा था मुझे उस खेल में—धूप में बैठे उस लड़के को, जिसके साथ कोई नहीं था, पहले कहा जाता है उठो; फिर कहते हैं चारों तरफ़ देखो; और फिर कहते हैं अपने दोस्त को ढूँढो। मतलब यह कि दोस्त चारों तरफ बिखरे पड़े हैं। ज़रूरत उन्हें ढूँढ़ निकालने की है। हमारी त्रासदी यह है कि दोस्त ढूँढ़ने के बजाए हम दोस्तों में दुश्मनी के अंश ढूँढ़ते हैं। कभी हमारे भीतर का डर हमसे ऐसा करवाता है और कभी हमारा कोई स्वार्थ हमें मनुष्यता के एक सहज गुण से वंचित कर देता है। ज़रूरत भीतर के इस डर को निकाल बाहर करने की भी है और उस निहित स्वार्थ से छुटकारा पाने की भी। जब तक हम इस ज़रूरत को महसूस नहीं करेंगे, धूप में अकेले बैठे रहेंगे। पर इस तरह बैठना हमारी नियति नहीं है, यह स्थिति हमने स्वयं पैदा की है और हम ही इस स्थिति से उबर भी सकते हैं—बशर्ते किसी अजनबी आँख में दोस्ती का रंग देखने की इच्छा हो हममें।



सवाल 'हम' के अस्तित्व का है

मुंबई के एक पाँच सितारा होटल में हो रही थी वह गोष्ठी। संदर्भ दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में आपसी सहयोग को बढ़ाने की आवश्यकताओं-संभावनाओं का था। पाकिस्तान से आए मशहूर सितारवादक उस्ताद रईस खान ने हिन्दू-मुसलमान एकता के संदर्भ में एक शेर सुनाया- 'ह' से बनता है हिन्दू और 'म' से मुसलमान। जब दोनों मिलते हैं तो 'हम' बनते हैं... श्रोताओं ने तालियाँ बजाकर इस भावना का स्वागत किया था, पर तभी वहीं बैठे भारतीय थलसेना के मेजर जनरल (सेवानिवृत्त) ई. डिसूज़ा के मुँह से सहसा निकला था 'भई, इस 'हम' में हम भी हैं, हमारा भी कुछ ख़्याल रखो...' इस बार तालियाँ नहीं बजी थीं, सब हँस दिए थे। पर इस हँसी में मेजर जनरल की बात से सहमति ही व्यक्त हुई थी...और उनकी पीड़ा से भी!

मेजर जनरल डिसूज़ा ने जब यह हल्की-फुल्की लगने वाली बात कही थी तो संभव है उनके दिमाग़ में मध्यप्रदेश में ईसाई ननों के साथ हुए दुर्व्यवहार की बात हो, पर तब और उसके बाद की बातचीत में उन्होंने कहीं यह संकेत नहीं दिया था कि वे भारत में ईसाइयों के साथ होने वाले व्यवहार से व्यथित या चिंतित हैं। लेकिन, वही गोष्ठी यदि आज हुई होती तो? तो यह संभव नहीं था कि उनके दिमाग में गुजरात में ईसाइयों के विरुद्ध चल रही गतिविधियाँ न होतीं और तब शायद पीड़ा के साथ-साथ आक्रोश भी होता उनकी आवाज में। और तब शायद श्रोता मात्र हँसकर चुप न रह जाते। शायद उनमें मतभेद भी होता और शायद वे इस एक वाक्य की गंभीरता और गहराई को अधिक महसूस कर पाते...भई, इस 'हम' में हम भी कहीं हैं।

उस गोष्ठी में १९४२ के आंदोलन की एक नेता उषा मेहता भी थीं। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, 'उन दिनों जब हम प्रभातफेरियाँ निकालते थे तो 'वंदेमातरम्' और 'भारत माता की जय' के नारों के साथ-साथ

बापू का दिया यह नारा भी लगाते थे कि 'हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, आपस में सब भाई-भाई।' उषा मेहता ने यह बात मेजर जनरल डिसूज़ा की बात के समर्थन में कही थी। लगता है आज फिर बापू का यह नारा गुँजाने और उसे जीने का वक़्त आ गया है।

ऐसे वक़्त का आना अच्छी बात नहीं है। पिछले दिनों गुजरात में जो कुछ हुआ या उससे पहले मध्यप्रदेश में जिस तरह ईसाई साध्वियों के साथ दुर्व्यवहार किया गया या कर्नाटक में ईसाइयों के संदर्भ में जो कुछ हो रहा है, वह उन सारे मूल्यों-आदर्शों के खिलाफ़ है जिन्हें जीने का हम दम भरते हैं। प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी, गृहमंत्री आडवाणी एवं गुजरात के मुख्यमंत्री केशूभाई पटेल तीनों ने गुजरात में ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाए जा रहे स्कूलों एवं गिरजाघरों पर हुए हमलों की तीव्र निंदा की है और यह आश्वासन भी दिया है कि ऐसी गतिविधियों को रोकने की हरसंभव और हर ज़रूरी कोशिश की जाएगी और अपराधियों को सजा दी जाएगी। उम्मीद की जानी चाहिए कि यह आश्वासन मात्र शब्द नहीं रहेंगे।

लेकिन मात्र इस उम्मीद से और उम्मीद के पूरे होने से भी बात बनती नहीं। सवाल सिर्फ़ ईसाइयों को सुरक्षा देने का नहीं है और न ही अपराधियों को सज़ा देने मात्र से समस्या का समाधान हो जाएगा। सवाल तो यह है कि आज़ादी के पचास साल बाद एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में धर्म के नाम पर बार-बार जहर क्यों फैलाया जाता है ?

हिन्दू-मुस्लिम विवाद, दुर्भाग्य से, हमें विरासत में मिला है। हमारा दुर्भाग्य यह भी है कि इस गंभीर मसले को हल करने के बजाए हम अकसर इसे अपनी राजनीति का हथियार बनाते रहे। और यदि आशंकाएँ ग़लत नहीं हैं तो अब हिन्दू-ईसाई विवाद की आग को हवा देकर उस राजनीतिक हथियार को पैना बनाए जाने की कोशिश हो रही है और हथियार की मार को व्यापक। धर्मों की बहुलता हमारे देश की विशेषता है...और ताकत भी। इस बहुलता पर यदि कोई आँच आती है तो उससे हमारे राष्ट्र-राज्य का और हमारे समाज का ताना-बाना कमज़ोर ही होगा। पर अकसर सीमित स्वार्थ हमें क्षितिजों की व्यापकता और महत्व को देखने नहीं देते। वैसे, यह पहली बार नहीं है जब ईसाई मिशनरियों की भूमिका पर उँगली उठाई जा रही है और उन्हें हिन्दू धर्म के विरोधी के रूप में दिखाया जा रहा है। पिछडी जातियों, विशेषकर आदिवासियों में ईसाई मिशनरियों द्वारा किए जा रहे काम को पहले

भी कई बार सेवा के बजाए 'हमले' के रूप में देखा गया है।

धर्म वैयक्तिक विषय है। हर नागरिक को अपनी इच्छा के अनुसार धर्म स्वीकारने या धर्मांतर का अधिकार है। पर यदि प्रलोभन देकर अथवा ज़ोर-ज़बर्दस्ती से किसी को धर्मांतर के लिए बाध्य किया जाता है तो इसे सही नहीं कहा जा सकता। ईसाई मिशनरियों पर इसी तरह के आरोप लग रहे हैं। उनके विद्यालयों, उनके औषधालयों और उनके सेवा-सदनों को एक वर्ग हमेशा संदेह की नज़र से देखता रहा है। लेकिन संदेह मात्र से तो किसी का अपराध साबित नहीं हो जाता। फिर भी, यदि धर्मांतर के लिए किसी को बाध्य किया जा रहा है तो इसकी आलोचना भी होनी चाहिए और रोकथाम भी। पर इस रोकथाम का तरीक़ा गिरजाघरों पर या ईसाइयों पर हमला करना तो नहीं ही हो सकता—नहीं होना चाहिए। ज़बर्दस्ती धर्मांतर करवाना गलत है, पर धर्मांतर करवाने के आरोप में किसी को 'सज़ा' देने के लिए कानून को अपने हाथ में लेना भी उतना ही ग़लत है।

सच पूछा जाए तो हिन्दुत्व की चिंता करने वालों ने अब तक वह सब नहीं किया जो उन्हें करना चाहिए था। हुई हैं थोड़ी-बहुत कोशिशें। उत्तर-पूर्वी राज्यों और उड़ीसा-महाराष्ट्र आदि में वनवासियों में जाकर काम करने की कोशिशें हुई हैं और इसका फल भी मिला है। पर इसके लिए अपेक्षित किसी व्यापक और सारगर्भित अभियान की आवश्यकता को उस गहराई से कभी नहीं समझा गया, जिसकी ज़रूरत थी। ईसाई संस्थाएँ ग़रीब और पिछड़े इलाकों में जिस निष्ठा और सेवाभावना के साथ दशकों से काम कर रही हैं, उस भावना को ग़ैर ईसाइयों ने अपने भीतर शायद पनपने ही नहीं दिया। आदिवासी ईसाइयत की ओर आकर्षित न हों, इसके लिए किसी अन्य की कोशिशों वाली लकीर को छोटा करने का तरीका 'रबर' से उस लकीर को मिटाना नहीं है। बड़ी लकीर खींचनी होती है, किसी अन्य की लकीर को छोटा बनाने के लिए। दुर्भाग्य से यह कोशिश पिछले पचास सालों में नहीं हुई...और यदि हुई भी हो तो बहुत छोटे पैमाने पर। आदिवासी इलाकों में या अन्य स्थानों पर, यदि सेवा की प्रतिस्पर्धा चलती तो किसी को किसी से शिकायत करने का मौका नहीं मिलता।

बहरहाल, इस समय मुद्दा उन हमलों का है, जो देश के कुछ हिस्सों में ईसाई समुदाय पर हो रहे हैं। आरोपों-प्रत्यारोपों को छोड़ भी दिया जाए तो भी यह तो स्पष्ट है कि देश में पहली बार ईसाई समुदाय पर इतने व्यापक ढंग से

प्रहार हुआ है। इसीलिए इसके पीछे किसी सोची-समझी रणनीति का संदेह होता है। फिर, जिस तरह संघ परिवार से जुड़ी संस्थाएँ...बजरंग दल या विश्व हिन्दू परिषद इस मामले में बयानबाज़ी कर रही हैं, उससे यह संदेह कुछ और पुख़्ता होता है। विहिप के नेता ने जिस तरह से मदर टेरेसा और अमर्त्य सेन को नोबेल पुरस्कार दिए जाने को एक षड्यंत्र निरूपित किया है, उससे भी यही लगता है।

यह अच्छी बात है कि प्रधानमंत्री ने और भाजपा के अध्यक्ष कुशाभाऊ ठाकरे ने भी स्वयं को संघ परिवार के सदस्यों से पृथक बताया है। श्री ठाकरे ने कहा है, प्रत्येक संगठन एक अलग संगठन है। उनके कामकाज का अपना तरीक़ा है। उन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। हम दूसरों की ज़िम्मेदारी नहीं ले सकते।' इसी तरह प्रधानमंत्री वाजपेयी एवं गृहमंत्री आडवाणी ने भी विहिप और बजरंग दल की गतिविधियों से स्वयं को व सरकार को अलग करते हुए कहा है कि गिरजाघरों पर हमले हमारी संस्कृति के विरुद्ध हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि इस दुर्भाग्यपूर्ण घटनाक्रम के लिए दोषी व्यक्तियों-संस्थाओं को सज़ा दी जाएगी भले ही उनका संबंध किसी भी संगठन या धर्म से क्यों न हो।' भाजपा नेताओं की ऐसी बातें आश्वस्त करने वाली हैं। उम्मीद की जानी चाहिए कि धर्मनिरपेक्ष देश में सभी धर्मावलंबियों को सुरक्षा देने का अपना कर्तव्य सरकार मुस्तैदी से निभाएगी। लेकिन, इस सबके बावजूद यह यक्ष प्रश्न तो बना ही हुआ है कि विभिन्न धर्मों के बीच इस तरह अविश्वास और बैर का माहौल क्यों बनता-पनपता है ? पारस्परिक सहनशीलता हमारी सभ्यता और संस्कृति का एक मुख्य आधार रही है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था, 'हम न केवल सार्वभौम स्वीकारता में विश्वास करते हैं, बल्कि सभी धर्मों को सच्चा मानते हैं।' जब सभी धर्म सच्चे हैं, सभी रास्ते एक ही जगह पहुँचाते हैं तो फिर दूरियों का क्या मतलब ? ये दूरियाँ हमारी नियति नहीं हैं।

सर्वधर्म समभाव के इस देश में धर्म के आधार पर भेदभाव हो या वैमनस्य पनपे, यह दुर्भाग्यपूर्ण ही नहीं, आत्मघाती भी है। धर्म को राजनीति का हथियार बनाकर हमने इस आत्मघाती प्रवृत्ति को पनपने का ही मौक़ा दिया है। संभव है, धर्म के नाम पर राजनीति करने से कुछ तात्कालिक लाभ मिल जाए, पर इससे अंततः देश और समाज कमजोर ही होगा। संघ परिवार के कुछ सदस्य मानते हैं कि हाल के विधानसभाई चुनावों में हिन्दुत्व के सवाल पर ढुलमुल नीति अपनाना भाजपा की हार का एक बड़ा कारण था। हालाँकि भाजपा का नेतृत्व ऐसा नहीं कह रहा, पर अध्यक्ष श्री ठाकरे द्वारा इस संभावना से कि भाजपा हिन्दुत्व के एजेंडे को पुनर्जीवित कर सकती है, इनकार न करने के संकेत अस्पष्ट

नहीं हैं। और यदि संघ परिवार के कुछ सदस्यों को यह लग रहा है कि ईसाइयों का विरोध अंततः हिन्दुत्व की भावना को मज़बूत करेगा, तो इसके अंतर्निहित खतरो से भी देश को बेख़बर नहीं रहना चाहिए। राजनीतिक लाभ के लिए देश के भविष्य को दाँव पर लगाने की किसी भी कोशिश को प्रबुद्ध नागरिकों का समर्थन नहीं मिल सकता।

इस देश का प्रत्येक नागरिक, चाहे किसी भी धर्म, जाति या सम्प्रदाय का हो, मिलकर 'हम' बनाता है। इन सबका मिलकर रहना और मिलकर आगे बढ़ना ही हमारी सफलता और हमारे अस्तित्व का आधार है। यह एक उत्साहवर्द्धक बात है कि ईसाइयों पर हुए हमलों का देश में व्यापक विरोध हुआ है। अब यह विरोध एक सकारात्मक परिणति तक पहुँचना चाहिए, यह काम धर्म की राजनीति का निषेध करके हो सकता है, यह काम सहिष्णुता और सद्भावना का एक ऐसा वातावरण तैयार करके हो सकता है, जिसमें किसी भी धर्मावलंबी को भय के वातावरण में न जीना पड़े। अल्पसंख्यकों का सुरक्षित अस्तित्व हमारी धर्मनिरपेक्षता की कसौटी ही नहीं, हमारी सभ्यता और संस्कृति की एक पहचान भी है। हमारी सामाजिक समरसता के ताने-बाने को कमजोर बनाने वाली हर कोशिश को नाकामयाब बनाना हमारी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य है। इसलिए जयहिन्द के साथ-साथ 'हिन्दू-मुस्लिम, सिख, ईसाई आपस में सब भाई-भाई' के मंत्र को भी पुनर्जीवित करना होगा। आज़ादी की लड़ाई में यह मंत्र हमारी ताक़त था। अब आज़ादी को सुरक्षित रखने के अभियान में भी यही मंत्र हमारा कवच बनेगा। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और गिरिजाघर की रक्षा करके हम स्वयं अपनी ही रक्षा करेंगे। इसलिए साम्प्रदायिकता का ज़हर फैलाने वाली कोशिशों और ताकतों को विफल बनाना ज़रूरी है।





विश्वनाथ सचदेव

जन्म : २ फरवरी १९४२

शिक्षा : एम.ए. (अँग्रेजी साहित्य)

कृतियाँ : *तटस्थता के विरुद्ध*
साहित्यकार नेहरू
गाँधी : एक पुनर्मूल्यांकन
समता का दर्शन
विषमता (संपादित ग्रंथ)
मैं गवाही देता हूँ (भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत)
मैं जो हूँ (कविता संग्रह)
सवालों के घेरे (आलेख)।

तुलसी सम्मान से सम्मानित प्रतिबद्ध वरिष्ठ पत्रकार विश्वनाथ सचदेव सत्रह वर्षों से टाइम्स ऑफ इंडिया ग्रुप से जुड़े रहे। चार वर्ष तक धर्मयुग के संपादक रहे। नवभारत टाइम्स, मुंबई संस्करण के संपादक रहे। उन्होंने अपनी शुरुआती पत्रकारिता बीकानेर में प्रकाशित 'वातायन' के संपादक के रूप में की।

प्रसिद्ध चित्रकार सुजा की कविताओं का हिन्दी अनुवाद एवं अँग्रेजी की कविताओं के अनुवाद भी किए हैं। सरदार पटेल के बारे में डॉ. रफीक जकारिया की चर्चित पुस्तक का भी अनुवाद किया। पत्रकारिता एवं साहित्य के अलावा विश्वनाथ सचदेव का एक और भी सबल पक्ष है—रेडियो एवं दूरदर्शन पर ढेरों कार्यक्रम कर चुके हैं। दूरदर्शन पर 'सच की परछाई' एवं स्टार टीवी पर 'अर्द्धशताब्दी' काफी चर्चित रहे। लिखने को उन्होंने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। लेकिन मन उनका कविता में ही रमता है।

'गूँजता सन्नाटा' और निबंध संग्रह 'साहित्य के आसपास' प्रकाशनाधीन हैं।